मैं दो अचल तटों के मध्य चल प्रवाह को देखता हूं तब मेरी दृष्टि स्थूल के सहारे सूक्ष्म को अवगाह लेती है। तट की सृष्टि चल प्रवाह ने की है। यदि अचल के मध्य में कोई चल नहीं होता तो तट दो नहीं होते। जीवन का हर तट किसी प्रवाह के द्वारा सृष्टि होता है। ज्ञान का प्रवाह भाषा के तटों से मर्यादित है। कोई भी दीप प्रज्वलन और निर्वाण की मर्यादा से मुक्त नहीं है। पुष्प के अस्तित्व की सीमा उच्छ्वसन और निश्वसन ही नहीं है। हर वस्तु का अवशेष उन्मेष और निमेष के बाद भी शेष रहता है। ऊर्मियों का उत्पन्न और प्रशान्त होना जल का उत्पन्न और प्रशान्त होना नहीं है। जल की सत्ता ऊर्मियों की सत्ता के पूर्व और पश्चात् भी है।

तट दो प्रवाह एक

तट दो

प्रवाह एक

मुनि नथमल

आदर्श साहित्य संघ

प्रकाशक
कमलेश चतुर्वेदी
आदर्श साहित्य संघ
चूरू राजस्थान

मूल्य २ २५

प्राथमिकी

मैं दो अचल तटों के मध्य चल प्रवाह को देखता हूं तब मेरी दृष्टि स्थूल के सहारे सूक्ष्म को अवगाह लेती है। तट की सृष्टि चल प्रवाह ने की है। यदि अचल के मध्य में कोई चल नहीं होता तो तट दो नहीं होते। जीवन का हर तट किसी प्रवाह के द्वारा सृष्ट होता है। ज्ञान का प्रवाह भाषा के तटों से मर्यादित है। कोई भी दीप प्रज्वलन और निर्वाण की मर्यादा से मुक्त नहीं है। पुष्प के अस्तित्व की सीमा उच्छ्वसन और निश्वसन ही नहीं है। हर वस्तु का ध्रुवांश उन्मेष और निमेष के बाद भी शेष रहता है। ऊर्मियों का उत्पन्न और प्रशान्त होना जल का उत्पन्न और प्रशान्त होना नहीं है। जल की सत्ता ऊर्मियों की सत्ता के पूर्व और पश्चात् भी है।

हमारी मूर्त दृष्टि का पारदर्शी स्फटिक शब्द है। उसमें सत्य प्रतिबिम्बित होता है। देश और काल के व्यवधान में शब्द-राशि ने जिस सत्य का प्रतिबिम्ब ग्रहण किया है, उसमें अपूर्व साम्य है। उस साम्य-दर्शन से ही मैं अभिव्यक्ति की दिशा में गतिशील हुआ हूं।

दो देशों और कालों में भी ध्रुव का प्रवाह एक रहा है। इस अनेकतागत एकता ने मानवीय विकास को बहुत शक्ति दी है। अनेकता और एकता के नैसर्गिक योग में ने किसी एक का अभाव दूसरी का भाव

नहीं हो सकता। दो तटों के मध्य में प्रवाहित होना ही एकता है और अपनी भुजाओं से प्रवाह का आश्लेष किए रहना अनेकता है।

मैं एकता को अनेकता के भुज पाश से आबद्ध पाता हूं इसीलिए हर काम में आचार्यश्री तुलसी का आशीर्वाद देखता हूं और उनके चरणों में कृतज्ञता के दो पुष्प उपहृत करता हूं।

मैं अनेकता को एकता से सवलित पाता हूं इसीलिए आत्मीय भावों को अनात्मीय जगत् में सम्प्रेषित करता हूं। इस सम्प्रेषण कार्य में मुनि दुलहराजजी का भी योग है। मैं अचल और चल के योग में अनुयोग देखता हूं यही मेरे समाधान की पृष्ठभूमि है।

जोधपुर
२५ मार्च १९६७

—मुनि नथमल

अनुक्रमणिका

सकुलता

सकुलता से मुक्त कौन है ? और सकुलता कहा नही है ? बाजार मे चले जाइए। दूकानो की लम्बी पक्ति है। एक वस्तु की अनेक दूकाने है। कहा से क्या लिया जाए, इसका निर्णय व्यक्ति को ही करना होगा।

राजनीति के क्षेत्र का स्पर्श करिए। अनेक दल है। सबके पास खुशहाली के घोषणा-पत्र है। किसकी सदस्यता स्वीकार की जाए, इसका निर्णय व्यक्ति को ही करना होगा।

चिकित्सा का क्षेत्र भी ऐसा ही है। अनेक प्रणालिया है। उनके अधिकारियो के पास रोग-मुक्ति का आश्वासन है। किसकी शरण लें, इसका निर्णय व्यक्ति को ही करना होगा।

ये सब अनेक है इसलिए बुद्धि को कष्ट देना पडता है। यदि सब एक हो जाए तो निर्णय करने का प्रयास क्यो करना पडता ?

एक बार भोज ने ऐसा ही सोचा और छहो दर्शनो के प्रमुखो को कारागार मे डालकर जेलर को आदेश किया कि उन्हे तब तक भोजन न दिया जाए जब तक वे सब एकमत न हो जाए।

यह बात सूराचार्य के कानो तक पहुची। वे भोज की सभा मे गए और गुजरात लौट जाने की अपनी इच्छा व्यक्त की और साथ ही पूछा—राजन् ! वहा जाने पर मेरे आचार्य धारा नगरी के बारे मे पूछेंगे। मैं उन्हे प्रामाणिक जानकारी दे सकूगा यदि आप मुझे सही-सही जानकारी दें।

राजा भोज ने गर्वोन्नत भाव से कहा—मुनिवर ! मेरी नगरी मे चौरासी राजप्रासाद है, चौरासी बडे बाजार है। प्रत्येक बाजार मे भिन्न-भिन्न वस्तुओ की चौबीस-चौबीस बडी दूकानें है।

सूराचार्य बीच मे ही बोल उठे—अलग-अलग दूकानें क्यो ? अच्छा हो, सबको मिलाकर एक कर दिया जाए।

भोज ने कहा— भला यह कैसे हो सकता है ? आप कल्पना कीजिए दूकान एक हो तो कितनी भीड़ हो जाए। लोगों की भिन्न भिन्न आवश्यकताओ को कौन कैसे पूरा करे ? आप मुनि है, व्यापार की कठिनाइयो को क्या जान ?

सूराचार्य ने कहा—यही तो मै कहना चाहता हू कि आप शासक है दर्शनो की सूक्ष्मताओ को आप क्या जान ? जिन दूकानो पर आपका अधिकार है उन्हे भी आप एक नही बना सकते तो भला जन रुचि के विभिन्न स्रोतो को एक कैसे कर सकेगे ?

राजा चिन्तन की गहराई मे डुबकी लगाए बिना नही रह सका। सब दार्शनिक अब अपने-अपने विचार-प्रसार मे स्वतत्र थे।

एक भाई ने पूछा — निर्णायक हम स्वय है, फिर उनको क्यों माने ?
मैंने कहा—गुरु को इसीलिए मानते है कि हम स्वय निर्णायक है। हमे जो अपने से बड़ा लगता है, उसी को हम गुरु मानते है, उसे गुरु नहीं मानते जो हमे अपने से छोटा लगे।

शब्दो की दुनिया मे कहा जाता है—हम आप्त-वाणी को मानते है, शास्त्रो को मानते है, गुरु को मानते है आदि-आदि। पर सचाई यह है कि हम अपने आपको मानते है। अपनी बुद्धि को मानते है। अपनी रुचि को मानते है। संस्कारो को मानते है।

यह जगत् संकुलता से भरा है। शब्द एक है, अर्थ अनेक। एक पाठ के अनेक आचार्यो ने अनेक अर्थ किए है। किसे मान्य किया जाए ? इसका निर्णय आगम नही करते, हम स्वय करते है। वहा आगम का प्रामाण्य नही होता, वहा प्रमाण बनती है हमारी अपनी बुद्धि। गुरु जो व्याख्या देते है, उसे भी हम अपने संस्कारो और रुचि के अनुरूप ढालने का यत्न करते है। उसमे ढले तो ठीक नही तो उसे हृदय से मान्यता नही देते। वाणी किसी सर्वज्ञ की हो या असर्वज्ञ की, सिद्धान्त किसी सर्वज्ञ का हो या असर्वज्ञ का, वह हमारा होकर ही मान्यता प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नही। जो बात हमारी समझ मे आती है, उसे हम प्रत्यक्ष मान्यता देते है और जो बात हमारी समझ मे नही आती, उसे हम श्रद्धा से मान्य करते है। श्रद्धा और क्या है ? हमारी ही बुद्धि का निर्णय है। हमने मान लिया कि अमुक व्यक्ति की बात मिथ्या नही हो सकती, हमारी समझ अधूरी हो सकती है। इसलिए उसकी सब बाते हम मान्य कर लेते है भले फिर वे समझ मे आए या न आए। श्रद्धा हमारी बुद्धि का स्वित-पक्ष है। इसका अर्थ यह नही कि समझ से परे जो भी हो उसे आख मूदकर मान्य कर लें किन्तु इसका अर्थ यह होना चाहिए कि जो समझ से परे हो वह समझ का विषय बने उतना धैर्य रखें। सत्य-जिज्ञासा की लौ बुझ न पाए, आग्रह का भाव बच न पाए।

दर्शन और बुद्धिवाद

जीवन के प्रति हमारा जो दृष्टिकोण है वह छिछला है और स्थूल है। इसका कारण यही है कि हम दर्शन को उतना महत्त्व नहीं देते जितना बुद्धि को देते है। दर्शन हमारा प्रत्यक्ष है और बुद्धि परोक्ष। दर्शन मे कोरी यथार्थता है सजावट नही। बुद्धि मे यथार्थता की अपेक्षा सजावट अधिक है। दर्शन का मार्ग ऋजु है, बुद्धि का घुमावदार। मनुष्य बहुत बार सजावट और घुमाव को अधिक पसन्द करता है इसीलिए वह बुद्धिवादी बनना चाहता है, दार्शनिक नहीं। सच तो यह है कि आज का दार्शनिक भी निरा बुद्धिवादी है। जो बुद्धि के सहारे तत्त्वो का विश्लेषण करता है जगत् के अस्तित्व की व्याख्या करता है वह दार्शनिक नही है किन्तु बुद्धिवादी है। दार्शनिक वह होता है जो अपने दर्शन या प्रत्यक्ष ज्ञान के सहारे तत्त्व निरूपण करे विश्व की व्याख्या दे। जो अग्नि को प्रत्यक्ष देखता है, उसके लिए हेतु या तर्क आवश्यक नही होता। वह उसी के लिए आवश्यक होता है जो अग्नि को धुए के द्वारा जानता है। दार्शनिक के लिए तर्क या बुद्धि का उपयोग नही है। वह प्रत्यक्षदर्शी होता है। जो इनका उपयोग करता है वही सही अर्थ मे दार्शनिक नही है किन्तु बुद्धिवादी है। आज दर्शन शब्द का अर्थ-परिवर्तन हो गया है। परोक्षदर्शी लोगो ने दर्शन की व्याख्या की वह बुद्धि के द्वारा की इसलिए दर्शन बुद्धिवाद का माया-जाल बन गया।

क्रोध अभिमान माया और लोभ—ये चिन्तन के आन्तरिक दोष हैं। ये देश काल और भाषा भेद के अनुसार बुद्धि द्वारा समर्थित भी हैं। बुद्धि के अस्तित्व का इन जैसा सुदृढ स्तम्भ दूसरा कोई नही है। क्रोध अभिमान माया और लोभ ये क्षीण होते है तब दर्शन का आरम्भ होता है। शास्त्र की भाषा मे जहा बुद्धि का अन्त होता है, वहा दर्शन का आरम्भ होता है।

बुद्धि भौतिक वस्तु है और दर्शन आध्यात्मिक। जो आत्मा और उसके अनन्य चैतन्य में विश्वास नहीं करता, उसके लिए दर्शन बुद्धि का पर्यायवाची होता है। आत्मवादी के लिए इनमें बहुत बड़ा अन्तर है—बुद्धि सान्त और ससीम होती है, दर्शन अनन्त और असीम।

मेरे कई मित्रों की ऐसी मान्यता है कि पहले दार्शनिक ज्ञान विकसित हुआ फिर धर्म की उत्पत्ति हुई। किन्तु मैं ऐसा नहीं मानता। मैं धर्म को दर्शन का साधन मानता हूं। धर्म से दर्शन की उत्पत्ति होती है किन्तु दर्शन से धर्म की उत्पत्ति नहीं होती। दर्शन हमारी प्रत्यक्ष चेतना का विकास है और धर्म उसका साधन। जब तक हमारा दर्शन अधूरा होता है, तब तक हमारे लिए दर्शन और धर्म भिन्न होते हैं। जब हम पूर्ण द्रष्टा बन जाते हैं तब हमारा धर्म हमारे दर्शन में विलीन हो जाता है, वहां साध्य और साधन का भेद समाप्त हो जाता है। साधना-काल में जो साधन होता है वह सिद्धि-काल में स्वभाव बन जाता है। दर्शन की साधना करते समय धर्म हमारा साधन होता है और उसकी सिद्धि होने पर धर्म हमारा स्वभाव बन जाता है—हममें अभिन्न हो जाता है। जिस दर्शन की मैंने चर्चा की है उसे स्व-दर्शन या आत्म-दर्शन कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त जैन, बौद्ध और वैदिक आदि जितने दर्शन हैं वे सब पर-दर्शन हैं अर्थात् बुद्धि द्वारा गृहीत दर्शन हैं। साधना की भाषा में जो दर्शन धर्म द्वारा प्राप्त होता है वह स्व-दर्शन होता है और जो बुद्धि द्वारा प्राप्त होता है वह पर-दर्शन होता है। स्व-दर्शन से आत्मा प्रकाशित होती है और पर-दर्शन से परम्परा का विकास होता है।

आत्मा का स्पर्श करती हुई हमारी जो आस्था है, ज्ञान और तन्मयता है, वही धर्म है। इसी धर्म की आराधना से दर्शन का उदय होता है। जो लोग इस आत्म-दर्शन का स्पर्श नहीं करते उनमें बौद्धिक विकास प्रचुर हो सकता है पर दर्शन का उदय नहीं होता।

दर्शन प्रत्यक्ष होता है, आवरण से मुक्त होता है। बुद्धि में आवरण होता है, संशय भी होता है और विपर्यय भी होता है। बुद्धि हमारा अत्यन्त समाधायक साधन नहीं है, वह कामचलाऊ अस्त्र है। उसके निष्कर्ष अनेक द्वारों से निकलते हैं। न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त की स्था-

प्रकाश नही दिखाई देता। अनन्त परमाणु चक्कर लग रहे है पर दिखाई नही देते।

जहा समानाभिहार होता है वहा आखो से नही देखा जा सकता है। हजारो मन धान मे सरसो का एक बीज यदि डाल दिया जाए तो वह होते हुए भी दिखाई नही पडता। इसीलिए हमारे ऋषियो मुनियो तथा दार्शनिको ने कहा—आपका देखना अधूरा है। एक सडक हमारे सामने है। यदि हम उसे दूर से देखते है तो वह केवल पतली-सी काली रेखा के समान ही दिखाई पडती है। वह दर्शन है ही नही। यह सही है कि दर्शन का अर्थ देखना होता है परन्तु देखना वही है जहा आखे मूदकर देखा जाए।

दर्शन का अर्थ है साक्षात्। जो मन को एकाग्र कर देखने का प्रयास करते है, वही सही देखना है। जहा दूरी सूक्ष्मता देखने मे बाधक नही बनती वही देखना है। भगवान् महावीर ने एक जगह कहा है—जो मनुष्य क्रोध मान लोभ पर विजय प्राप्त कर लेता है वह परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। जब हम अपने आप मे देखते हैं तब दर्शन पूर्ण हो जाता है। जहा चित्त को अपने आप में केन्द्रित किया जाता है वही है दर्शन। शेष सब तर्क का मायाजाल। यह सरल तो बहुत है परन्तु इसे पाने में कठिनाई होती है पर जिन्होने थोडा प्रयत्न किया उन्हे मिला भी अवश्य। एक व्यक्ति सोते के पास खडा है। वह देखता है कि एक हिरणी पाव से लग डाती हुई आती है और सोते मे पाव कुछ देर तक रखने के बाद पुन वापस चली जाती है। तीन दिनो तक यही क्रम चलता रहा और चौथे दिन हिरणी बिलकुल स्वस्थ हो गई। उस मनुष्य ने देखने का यत्न किया और उसी से प्राकृतिक चिकित्सा का जन्म हुआ। एक मनुष्य बीमार है। वह देखता है कि एक बच्चा ला-ला का उच्चारण करता हुआ जोरो से सास ले रहा है। उसने देखने का प्रयत्न किया उससे स्वर चिकित्सा (दयुनो पथी) का जन्म हुआ। जिस किसी ने भी देखने का प्रयत्न किया शायद कभी व्यर्थ नही गया। बडे-बडे कहानीकार कलाकार आदि जिन्होने भी इतनी ख्याति प्राप्त की उन्होने एकाग्रता से देखने का प्रयत्न किया था। महाकवि कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल का ऐसा सृजन किया है जिसे

उसने सोचा— बहु स्याम् वह बहुत हो गया। मनुष्य कभी जगल मे रहता था। उस स्थिति से उबरकर वह गाव मे आया। अब वह गाव मे भी जगल ला रहा है। नई दिल्ली म मैंने देखा—एक कोठी जगल से घिरी है मनुष्य की जो चिरपरिचित आदत है, वह अभी नही छूटी है इसीलिए वह गाव मे भी जगल ला रहा है।

एक समय लोग दाढी और मूछ रखते थे। बीच मे सफाई का युग आया और अब पुन दाढी मूछ का युग आ रहा है। यह आवर्तन और प्रत्यावर्तन होता ही रहता है।

सापेक्षता से ही समाज बनता है। समज और समाज म यही तो भेद है। पशुओ का समूह समज कहलाता है और समाज उन मनुष्यो का समूह होता है जिनम सापेक्षता होती है। समाज हो और सापेक्षता न हो वह समाज नही अस्थि-सघात मात्र है। समाज का आधार है परस्परावलम्बन परस्पर-सहयोग। समाज मे व्यवस्था का जन्म होता है। व्यवस्था भली भाति चले इसलिए शासन आता है। सापेक्षता व्यवस्था और शासन— ये तीन व्यवस्थाए जहा हो वहा दस आदमी मिलने पर भी समाज बन जाता है, अन्यथा लाख आदमी होने पर भी समाज नही बनता।

दर्शन शब्द का अर्थ विस्तार हुआ है। एक समय आत्मोपलब्धि और सत्य के साक्षात्कार को दर्शन कहा जाता था। द्रष्टा की प्रत्यक्ष अनुभूति के लिए दर्शन शब्द व्यवहृत होता था पर आज परोक्षानुभूति म भी वह व्यवहृत होने लगा है।

व्यक्ति सामाजिक होने पर भी व्यक्ति है ही इसलिए वह समाज मे रहते हुए भी निरपेक्षता चाहता है और शासनहीन राज्य की कल्पना करता है, यह अस्वाभाविक भी नही है। निरपेक्षता से मुक्त सापेक्षता और सापेक्षता से मुक्त निरपेक्षता हो ही नही सकती। जो कोई भी सत् है वह सत्-प्रतिपक्ष है। प्रकाश और अधकार न्याय और अन्याय आरोग्य और रोग ये सब सत् प्रतिपक्ष है। अकेला सब्द शून्य होता है। सामाजिक प्राणी सर्वथा निरपेक्ष हो ऐसा हो ही नही सकता। और यह भी असम्भव है कि व्यक्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व हो और वह सर्वथा सापेक्ष ही हो। निरपेक्षता को न जानने वाला शान्ति का मर्म जान ही नही पाता। अहिंसा

अपरिग्रह और सचाई—ये सब निरपेक्षता के ही परिणाम हैं।

एक दल या सम्प्रदाय के लोग साथ रहते हैं। वे सापेक्ष ही हों और निरपेक्ष न हों तो कलह हो जाता है। एक बड़े परिवार वाले व्यक्ति से मैंने पूछा—आपका परिवार इतना बड़ा है, कैसे एक साथ रह रहे हैं? उसने उत्तर दिया—बहुत कुछ सहा है, अन्यथा कभी के अलग-अलग चूल्हे जल जाते। सन्तुलन के लिए सापेक्ष के साथ निरपेक्ष भाव हो—यही दर्शन की देन है।

व्यवस्था समाज के लिए आवश्यक है, वैसे अव्यवस्था भी। गति और प्रगति के लिए अव्यवस्था आवश्यक है। स्कन्ध भी समान और भेद से बनता है, केवल सघात हो तो सारा विश्व पिण्ड बन जाए। हाथ की पांचों अंगुलियों का पिण्ड एक हो जाय तो उनकी कोई उपयोगिता नहीं रह सकती। भिन्नता में ही उनकी उपयोगिता है। कोरे भेद से भी काम नहीं चलता। अणु-अणु बिखर जाएं तो जीवन दूभर बन जाए। सघात और भेद से स्कन्ध बनता है, वही हमारे लिए उपयोगी होता है। अव्यवस्था का अर्थ है—अवस्था। कोरी व्यवस्था से समाज जड बन जाता है, क्योंकि व्यवस्था कृत है, नैसर्गिक नहीं। नैसर्गिकता स्वयं अवस्था बन जाए तब व्यवस्था की आवश्यकता ही न रहे।

शासन-प्रणाली भी आयी है। समाज ने उसे आवश्यक माना और वह आ गई। एक समय मनुष्य ने शासन की कल्पना की, राज्य बन गया, शासक बन गए। मार्क्स की अन्तिम कल्पना है—शासन-मुक्त राज्य हो। यह कल्पना मार्क्स की नयी नहीं है। जैन आगमों में 'अहं इन्द्र' का उल्लेख है। वहां सब इन्द्र हैं, कोई सेवक या पदाति नहीं। प्रेष्य और प्रेषक भाव भी नहीं हैं। वह शासनमुक्त समाज का चित्र है। किन्तु वे 'अहं इन्द्र' इसलिए हैं कि उनके क्रोध, मान, माया और लोभ क्षीण हैं, स्वभाव से वे सन्तुष्ट हैं। शासनमुक्त राज्य के लिए ये अनिवार्य अपेक्षाएं हैं।

स्वाधीनता दर्शन की बहुत बड़ी देन है। सब लोग विचारों की स्वतन्त्रता चाहते हैं, लेखन और वाणी की स्वतन्त्रता चाहते हैं। स्वतन्त्रता का घोष प्रबल है। कोई पराधीनता नहीं चाहता। राजा शब्द इतिहास और शब्दकोश का विषय बन गया है, वैसे ही नोकर शब्द भी अतीत की वस्तु

बनता जा रहा है। इसका अर्थ है कि निरपेक्षता आ रही है। सापेक्ष की कड़ी टूटने पर कोई बड़ी हानि नहीं व्यवस्था न रहे तो कोई दोष नहीं शासन न रहे तो कोई आपत्ति नहीं यदि स्व-शासन आ जाए। स्व शासक न शासन से शासित होता है और न शासन से मुक्त। कुशले पुण मो बद्ध नो मुक्के — कुशल वह है जो न बद्ध होता है और न मुक्त। एक ही व्यक्ति जो न बंधा हुआ हो और न मुक्त हो यह कैसे हो सकता है? शासन छोड़ा नहीं जा सकता। शासन नहीं वहां त्राण नहीं। कोई भी अत्राण रहना नहीं चाहता—इसलिए आत्मानुशासन आता है। कुशल इसलिए है कि वह पर शासन से बद्ध नहीं है और आत्मानुशासन से मुक्त नहीं है।

आत्मानुशासन के मनोभाव को विकसित करना आवश्यकता है। कहीं भी देखा जाय ईर्ष्या है, स्पर्धा है, एक-दूसरे को नीचे गिराने का भाव है और असहनशीलता है। समाज में जहां सापेक्षता है वहां ऐसा क्या होता है यह आज भी एक प्रश्नचिह्न बना हुआ है।

साम्यवादी शासनमुक्त समाज की कल्पना लेकर चलते हैं। वहां क्या होना है? अपनी सुरक्षा और अपने प्रतिस्पर्धी का पतन। एक ओर शासन मुक्ति की कल्पना दूसरी ओर इतना स्वार्थ-संघर्ष यह बंधन की पूर्ति नहीं तो और क्या है?

व्यक्ति ने मान लिया उत्कर्ष हो तो मेरा हो। मुख्य या शक्तिशाली मैं ही बनूं। यह व्यक्तिवादी मनोवृत्ति ही सामाजिकता को वास्तविकता नहीं बनने देती किन्तु आत्मानुशासन का विकास होने पर व्यक्ति व्यक्ति रहकर भी असामाजिक नहीं रहता।

व्यक्ति में जो स्व की सीमा है, उसे न समझकर वह अपने में पर का आरोप कर लेता है। संक्रान्ति वेला में प्रत्येक वस्तु छोटी दीखती है। विशाल वस्तु भी दर्पण में समा जाती है। व्यक्ति भी सोचता है सारी सृष्टि मुझमें समाहित हो जाए पर ऐसा सोचनेवाला सत्य के निकट नहीं पहुंच पाता।

व्यक्ति समुद्र है। राग-द्वेष की ऊर्मियां उसमें कल्लोलें कर रही हैं। वहां सत्य-दर्शन नहीं होता। उन ऊर्मियों से ऊपर आने वाले की ही दृष्टि स्पष्ट हो सकती है भीतर रहने वाले की नहीं।

समाजवादी प्रणाली में भी सत्ता कुछेक व्यक्तियों में केन्द्रित हो गई है। जनता अपने को असहाय-सी अनुभव करती है। अपना व्रत लेकर चलने वाले कभी अत्राण नहीं होते।

शस्त्र शब्द में त्राणशक्ति की कल्पना है पर वह वास्तविक नहीं। भीषण आयुध रखने वाले भी सशंक हैं।

दशार्णभद्र अपना ठाट-बाट लेकर भगवान महावीर के दर्शन के लिए चला। इन्द्र ने सेना की रचना की। राजा पराजित हो गया, त्राण अत्राण की अनुभूति करने लगा क्योंकि वह पर की सीमा में चला गया था। अंत में वह भगवान की शरण में आया और विजयी बन गया। अब इन्द्र पैरों में आ लुटा।

जो पर-शासन में पराजित हो गया, वह स्व-शासन में आ विजयी बन गया। समाज में रहने वाले स्व की सीमा में चलें। इस स्व-शासन का विकास होने पर समाज में व्यवस्था नहीं होगी किन्तु एक विशेष अवस्था होगी। नियम कृत्रिम नहीं होगा, किन्तु सहज होगा। प्रेरणा का मूल भय नहीं होगा किन्तु कर्तव्यनिष्ठा होगी।

जीवित धर्म

मैं धर्म की उपासना करता हूं पर उसकी नहीं करता जो मृत है—मैं उसकी उपासना करता हूं जो जीवित है। जीवित वही है जिसका वर्तमान पर अधिकार है। अतीत असत् होता है इसलिए कि वह अपना कार्य कर चुकता है। भावी इसलिए असत् होता है कि वह कार्यक्षम नहीं होता। सत् वर्तमान है। उसकी उज्ज्वलता से भूत चमकता है और भावी बनता है।

तुम जीवित रहना चाहते हो तो कोरे अतीत के गीत मत गाओ। कोरी कल्पना की उड़ान मत भरो। आज क्या करना प्राप्त है इसे सोचो दो क्षण गहराई से सोचो।

तुम सहिष्णु हो अनुशासित हो स्थितप्रज्ञ हो परिवर्तन की मर्यादा को जानते हो तो तुम जीवित हो तुम्हारा धर्म जीवित है वर्तमान पर तुम्हारा अधिकार है और तुम्हारा वर्तमान उज्ज्वल है।

अपनी भूलों को देखने सुनने स्वीकार करने और उनका परिमार्जन करने में तुम क्षम हो तो तुम जीवित हो तुम्हारा धर्म जीवित है, वर्तमान पर तुम्हारा अधिकार है और तुम्हारा वर्तमान उज्ज्वल है।

दूसरों की अच्छाइयों को देखने सुनने स्वीकार करने और अपनाने में तुम क्षम हो तो तुम जीवित हो तुम्हारा धर्म जीवित है, वर्तमान पर तुम्हारा अधिकार है और तुम्हारा वर्तमान उज्ज्वल है।

धर्म इसीलिए जीवित तत्त्व है कि उसमें वर्तमान उज्ज्वल होता है। वह इसीलिए शाश्वत तत्त्व है कि उसमें वर्तमान सदा उज्ज्वल होता है।

राष्ट्र-धर्म

धर्म व्यक्तिगत होता है। वह सामाजिक या राष्ट्रीय नहीं होता। जो सामाजिक या राष्ट्रीय होता है, वह व र्म का संस्थान हो सकता है, धर्म नहीं। धर्म का अर्थ है, आत्मा की पवित्रता। वह वैयक्तिक ही हो सकता है।

कर्तव्य राष्ट्रीय हो सकता है। उसका अर्थ है नीति को क्रियान्वित करना। उसका सम्बन्ध आत्मा की पवित्रता से नहीं है, किन्तु दायित्व से है।

नीति भी राष्ट्रीय हो सकती है। वह सामाजिक जीवन जीने की पद्धति है। समूचे समाज या राष्ट्र के लिए जनता उसे निश्चित करती है। वह व्यक्तिगत बुद्धि या रुचि के आधार पर नहीं चलती, किन्तु जनता के सामूहिक हितों के आधार पर निश्चित होती है।

कर्तव्य धर्म हो सकता है पर वह धर्म ही है, यह नहीं होता। नीति धर्म हो सकती है पर वह धर्म ही है, यह नहीं होता। इसका फलित अर्थ यह है कि धर्म और कर्तव्य सर्वथा एक नहीं हैं। महात्मा गांधी अहिंसा को अपना धर्म मानते थे। कांग्रेस ने उसे नीति के रूप में स्वीकार किया था। धर्म आत्मा से अभिन्न होता है, उसे छोड़ा नहीं जा सकता। नीति समय-समय पर बदलती रहती है।

आज हिन्दुस्तान के सामने धर्म, कर्तव्य और नीति—ये तीनों प्रश्नचिह्न बने हुए हैं। सदाचार को अपना धर्म मानकर चलने वाले लोग बहुत कम हैं। वह राष्ट्रीय कर्तव्य के रूप में भी नहीं अपनाया गया है। राष्ट्रीय नीति के रूप में भी उसे बहुत बल नहीं मिल रहा है। इसीलिए असदाचार सदाचार पर हावी हो रहा है। इस स्थिति को बदलने के लिए धार्मिक पवित्रता का वातावरण बनाना, कर्तव्यबुद्धि को जगाना और नीति का दृढ़ता के साथ निर्धारण करना—ये तीनों अपेक्षित माने जा रहे हैं। इस सचाई को हम अस्वीकार नहीं करते कि धार्मिक-बुद्धि भी नीति जितनी

व्यापक नहीं हो सकती। नीति के साथ कानून की शक्ति है इसलिए वह अनिवार्यता है। कर्तव्य के साथ दण्ड शक्ति नहीं है। वह बौद्धिक-शक्ति का विकास है। धर्म आत्मा का आन्तरिक प्रकाश है। नीति स्थूल है, कर्तव्य सूक्ष्म है और धर्म सूक्ष्मतम। धर्म की मान्यता है—तुम अच्छाई से भिन्न कुछ हो ही नहीं। कर्तव्य कहता है—तुम्हें अच्छाई का पालन करना चाहिए। नीति कहती है—तुम्हें अच्छाई का पालन करना होगा। ये तीनों रेखाएं अपने-अपने क्षेत्र में विकसित होती हैं, तब असदाचार सदाचार पर हावी नहीं हो सकता। नीति निर्धारण का दायित्व सरकार पर है। कर्तव्य-बुद्धि जगाने का दायित्व सामाजिक कार्यकर्ताओं पर है। धार्मिक पवित्रता को विकसित करने का दायित्व धार्मिक गुरुओं पर है।

वर्तमान स्थिति को बदलने के लिए यह अपेक्षित है कि कोई आदमी—

रिश्वत न ले और न दे।

मिलावट न करे।

व्यक्तिगत संग्रह को प्रोत्साहन न दे।

दायित्व को लेकर जनता के प्रति अन्याय न करे।

सामाजिक कुरीतियों का बहिष्कार करे।

इन्हें राष्ट्रीय नीति राष्ट्रीय कर्तव्य और राष्ट्रीय धर्म के रूप में मान्यता मिलने पर वह सहज ही हो जाएगा जो सब लोग करना चाहते हैं।

एकता की समस्या

हमारे जीवन में एकता और अनेकता का ऐसा विचित्र योग है कि हम एक होकर भी अनेक हैं और अनेक होकर भी एक हैं। हमारी एकता का अर्थ है, समानता की अनुभूति और अनेकता का अर्थ है आवश्यकताओं का विभाजन। हम सब मनुष्य हैं। मनुष्य-मनुष्य समान हैं इसलिए सब एक हैं। किन्तु हमारी आवश्यकता-पूर्ति के स्रोत विभिन्न हैं। इसमें हम विभक्त हैं, इसलिए अनेक भी हैं। जिससे हमारी अपेक्षा पूरी होती है, उसमें हमारा मोह हो, यह स्वाभाविक है। जिसमें मोह होता है, उसे महत्त्व देने की भावना भी अस्वाभाविक नहीं है। हम सबसे अधिक महत्त्व अपने शरीर को [illegible] हैं। फिर अपने रंग-रूप, भाषा, जाति, गांव, जिला, प्रान्त और राष्ट्र को देते हैं। उन्हें महत्त्व देना कोई अपराध भी नहीं है, यदि हम दूसरों को हीन माने बिना, बाधा पहुंचाए बिना उन्हें महत्त्व दें। किन्तु हमारे में अपने भौतिक साधनों को सीमा से अधिक महत्त्व देने की प्रवृत्ति होती है। इसीलिए हम दूसरों के सामने अपने साधनों की योग्यता प्रमाणित करना चाहते हैं। इस प्रक्रिया में हमारा मन घृणा, स्पर्धा, मद आदि अनेकता के बीजों की बुआई करता है। हम नहीं चाहते कि साधनों की अनेकता के आधार पर मानवीय एकता खण्डित हो, पर साधनों को असीम महत्त्व देते हुए हम कैसे कह सकते हैं कि हम नहीं चाहते कि साधनों की अनेकता के आधार पर मानवीय एकता खण्डित हो। भौतिक साधनों के प्रति हमारा आकर्षण जितना अधिक होगा, उतनी ही अधिक मानवीय एकता खण्डित होगी। हम मानवीय एकता को बनाए रखना चाहते हैं और भौतिकता के आकर्षण को कम करना नहीं चाहते, फिर वह कैसे संभव होगी?

मानवीय एकता को खण्डित करने वाले प्रमुखतः तीन श्रेणी के लोग होते हैं। एक वे जो अतिमानी होते हैं। दूसरे वे जिनका बुद्धि-बल प्रखर

होना है। तीसरे वे जो प्रकृति के दुष्ट होते हैं। शक्तिशाली और बुद्धि सम्पन्न लोग जब अधिकार-लोलुप बन जाते हैं प्रत्यक्ष या परोक्ष साम्राज्य जब प्रिय हो जाता है तब मानवीय एकता का भंग होता है। दुष्ट प्रकृति के लोग अपने पर नियंत्रण न रखने के कारण भेद का वातावरण उत्पन्न कर डालते हैं। इतिहास स्वयं साक्ष्य देता है कि जब-जब मानवीय एकता का भंग हुआ है तब-तब ऐसे ही लोगों के द्वारा हुआ है।

यदि हम चाहते हैं कि मानवीय एकता पुनः स्थापित हो भौतिक उपकरण को लेकर मनुष्य मनुष्य का शत्रु न बने तो हमें मानव निर्माण के प्रति विशेष ध्यान देना होगा। तात्कालिक उपचार यह हो सकता है कि एकता के प्रबल आन्दोलन द्वारा मनुष्य को मानवीय एकता की अनुभूति कराई जाए किन्तु इसका स्थायी समाधान यह है कि हम अपने प्रशिक्षण क्रम में (१) शक्ति-संगोपन (२) बुद्धि-संयम और (३) भाव-पवित्रता की शिक्षा को अनिवार्यता दें। शक्ति-संगोपन की शिक्षा प्राप्त हो तो बहुमत अल्पमत के प्रति कभी आक्रमणकारी नहीं हो सकता और अल्पमत बहुमत के प्रति कभी उद्दंड नहीं हो सकता। शक्ति के संगोपन का उसकी उपलब्धि से अधिक महत्त्व है। बौद्धिक-संयम का अभ्यास हो तो किसी भी प्रकार का साम्राज्य स्थापित नहीं हो सकता और शोषण भी नहीं हो सकता। स्वभाव की पवित्रता प्राप्त हो जाए तो आए दिन होने वाले संघर्ष समाप्त हो जाए।

राष्ट्रीय एकता की बात सोची जाती है पर हमारा विश्वास है कि मानवीय एकता को आधार माने बिना राष्ट्रीय एकता स्थितिशील नहीं बनती। मनुष्य के मूल्यांकन का हमारा दृष्टिकोण विशुद्ध नहीं है। हम मनुष्य को मनुष्य की दृष्टि से नहीं जानते-पहचानते। हम उसका अंकन जातीय प्रांतीय राष्ट्रीय भाषायी आदि माध्यमों से करते हैं। इसलिए वह हमसे बहुत दूर रह जाता है। उसके माध्यम हमारे माध्यमों से भिन्न होते हैं इसलिए भेद मिट ही नहीं पाता। फिर भी जो राष्ट्रीय एकता का ज्वलंत प्रश्न है उस पर विचार करना चाहिए। वर्तमान में जो भेद वाली प्रवृत्तियां बढ़ रही हैं उनके प्रभावशाली हेतु हैं

१ प्रांतीयता २ जातीयता ३ भाषा ४ राजनैतिक-दल।

जातीयता किसी दिन समाप्त हो सकती है। तब सब लोग अपने आपको भारतीय मानने में गौरव अनुभव करेंगे। जन्मना कोई बड़ा-छोटा, स्पृश्य-अस्पृश्य नहीं होगा यानी जातिवाद समाप्त हो जाएगा। प्रांतों की व्यवस्था में भी सम्भव है परिवर्तन हो जाए। प्रांतों का विभाजन प्रशासन की सुविधा का [illegible] न रहकर अलगाव का प्रमुख हेतु बनता है तो यह स्वयं एक दिन चिन्तनीय होगा। किन्तु भाषा और राजनीतिक दल एकता के स्थायी शत्रु हैं। भाषा या राजनीतिक दल न हों, यह कल्पना कुछ जटिल है। फिर भी ये दोनों जीवन को बहुत निकटता से प्रभावित करने वाले तत्त्व हैं। इसलिए इनके बारे में बहुत गहराई से सोचना चाहिए। भाषा का प्रश्न भी राजनीति से भिन्न नहीं है। परन्तु राजनीतिक व्यक्ति ही अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए भाषायी विवाद खड़ा करते हैं। जो लोग राष्ट्र-संचालन के लिए अधिक उत्तर-दायी हैं, उनके द्वारा भी राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहन नहीं मिलता है, यह सचमुच आश्चर्य की बात है।

अभय की शक्ति

हम जितना जीवन के बारे में जानते हैं उतना मृत्यु के बारे में नहीं जानते। जीवन की शक्ति से हम जितने परिचित हैं, उतने ही हम मृत्यु की शक्ति से अपरिचित हैं। मृत्यु हमारी शत्रु नहीं किन्तु बहुत बड़ी मित्र है। हमारे मन में भय होता है तब हम उसे शत्रु मानते हैं। हमारा मन अभय होता है, तो वह हमारी मित्र बन जाती है। जो मृत्युंजय होता है वह अकुतोभय होता है—उसे कहीं से भी भय नहीं होता।

आज भारत के लिए अभय की आराधना का बहुत बड़ा प्रसंग उपस्थित है। वह सैनिक शिक्षा को अनिवार्य करके भी उतना शक्तिशाली नहीं बन सकता जितना मृत्यु को मित्र बनाकर बन सकता है। भय को भय से परास्त करने में मनुष्य को अधिक विश्वास है। इसीलिए शत्रु के प्रति शस्त्र का प्रयोग किया जाता है। शस्त्र भय का प्रतीक है। जिसका भय बहुत बड़ा होता है यानी जिसका शस्त्र बहुत शक्तिशाली होता है, वह उसे परास्त कर देता है जिसका भय छोटा होता है यानी जिसका शस्त्र कम शक्तिशाली होता है। भय से भय या शस्त्र से शस्त्र को परास्त करने की शक्ति प्राप्त होने पर कुछ समय के लिए प्रत्येक युद्ध को टाला जा सकता है किन्तु उसके परिणाम को नहीं टाला जा सकता। शस्त्र निष्ठा के साथ जो अशान्ति शिथिलता और आतंक उपजाता है वह समूचे राष्ट्र की पवित्र चेतना को लील जाता है।

मनुष्य के मन में भय होता है, इसलिए सहज उसमें शस्त्र निष्ठा होती है। अवसर पाकर वह और प्रबल बन जाती है। चीन ने आक्रमण किया और भारत की शस्त्र निष्ठा प्रबल हो गई। आज उसके सामने अहिंसा की चर्चा करना अपराध जैसा हो गया पर यह हमारे लिए बहुत ही चिन्तनीय है। हम थोड़ी-सी जटिल स्थिति आने पर इस प्रकार अहिंसा को विसर्जित कर दें तो उसका दूरगामी परिणाम अच्छा नहीं होगा।

आचार्यश्री तुलसी ने सशस्त्र-प्रतिरोध को अस्वाभाविक नहीं कहा तो बहुत लोगो ने उसे पसंद किया। आचार्यश्री ने जब अहिंसक-प्रतिरोध का विकल्प सुझाया तो बहुत लोग उससे सहमत नही हुए। उससे भारतीय आत्मा की नाडी-परीक्षा हो गई। आज भी अधिकांश भारतीय अहिंसा को कायरता मान बैठे है। वे मानते है कि पराक्रमी लोग उसे नही अपना सकते। उनका यह चिन्तन कारण-शून्य भी नही है। हमारे यहा अहिंसा का जितना प्राणि-दया के रूप मे विकास हुआ है उतना प्रतिकारात्मक शक्ति के रूप मे नही हुआ है। हम किसी को न मारे—यह अहिंसा का एक पक्ष है। इस करुणात्मक पक्ष से हम दूसरो पर अपने द्वारा होने वाले अन्याय से बच सकते है किन्तु कोई दूसरा हमारे पर अन्याय करे उससे नही बच सकते। उससे बचने का उपाय है अहिंसा की प्रतिकारात्मक शक्ति का विकास। यदि वह हो तो कोई हमारे साथ अन्याय करने का दुस्साहस कर ही नही सकता। आचार्यश्री तुलसी अहिंसक प्रतिकार की बात कहकर जनता को कायर नही बनाना चाहते किन्तु उस कायरता मे उबारना चाहते है जो शस्त्र-सज्जा होने पर भी मन के गह्वर मे छिपी रहती है। आचार्यश्री ने यह नही सुझाया कि आपकी निष्ठा शस्त्र-बल मे हो। मन मे भय और कायरता छिपी हो उस स्थिति मे आप अहिंसक-प्रतिकार करे। शस्त्र, भय और कायरता का अहिंसा मे कोई मेल ही नही है। आचार्यश्री कहते है कि केवल भारत ही नही समूचा ससार अहिंसक-प्रतिकार का मार्ग अपनाए। पर अपनाए वही और उसी स्थिति मे जब उसका पराक्रम आत्मा से प्रस्फुटित हो, मन का कोई एक भी कोना भय से भरा न हो और शस्त्र पर से आस्था उठ गई हो। वे चाहते है कि भारत ऐसा शक्तिशाली बने। मै नही कहता कि उनकी कल्पना एक ही दिन, मास या वर्ष मे सफल हो जाएगी किन्तु मै मानता हू कि कोई भी कल्पना एक दिन अवश्य सफल होती है। इसलिए उसकी सफलता मे हमे कोई सदेह नही होना चाहिए।

प्रथम बार हम उसकी सफलता की परीक्षा करने का यत्न न करें किन्तु यही देखें कि वह अच्छी है या नही। मुझे लगता है कि वह कल्पना बहुत अच्छी है। युद्ध समस्या का स्थायी समाधान नही है। दास-प्रथा और

अभय की शक्ति

हम जितना जीवन के बारे में जानते है उतना मृत्यु के बारे में नही जानते। जीवन की शक्ति से हम जितने परिचित है उतने ही हम मृत्यु की शक्ति से अपरिचित हैं। मृत्यु हमारी शत्रु नही किन्तु बहुत बडी मित्र है। हमारे मन मे भय होता है तब हम उसे शत्रु मानते है। हमारा मन अभय होता है, तो वह हमारी मित्र बन जाती है। जो मृत्युंजय होता है वह अकुतो भय होता है—उसे कही से भी भय नही होता।

आज भारत के लिए अभय की आराधना का बहुत बडा प्रसग उप स्थित है। वह सैनिक शिक्षा को अनिवार्य करके भी उतना शक्तिशाली नही बन सकता जितना मृत्यु को मित्र बनाकर बन सकता है। भय को भय से परास्त करने मे मनुष्य को अधिक विश्वास है। इसीलिए शत्रु के प्रति शस्त्र का प्रयोग किया जाता है। शस्त्र भय का प्रतीक है। जिसका भय बहुत बडा होता है यानी जिसका शस्त्र बहुत शक्तिशाली होता है वह उसे परास्त कर देता है जिसका भय छोटा होता है यानी जिसका शस्त्र कम शक्तिशाली होता है। भय से भय या शस्त्र से शस्त्र को परास्त करने की शक्ति प्राप्त होने पर कुछ समय के लिए प्रत्येक युद्ध को टाला जा सकता है किन्तु उसके परिणाम को नही टाला जा सकता। शस्त्र निष्ठा के साथ जो अशान्ति शिथिलता और आतक उपजता है वह समूचे राष्ट की पवित्र चेतना को लील जाता है।

मनुष्य के मन मे भय होता है, इसलिए सहज उसमे शस्त्र निष्ठा होती है। अवसर पाकर वह और प्रबल बन जाती है। चीन ने आक्रमण किया और भारत की शस्त्र निष्ठा प्रबल हो गई। आज उसके सामने अहिंसा की चर्चा करना अपराध जसा हो गया पर यह हमारे लिए बहुत ही चिन्तनीय है। हम थोड़ी-सी जटिल स्थिति आने पर इस प्रकार अहिंसा को विसर्जित कर दें तो उसका दूरगामी परिणाम अच्छा नही होगा।

आचार्यश्री तुलसी ने सशस्त्र-प्रतिकार को अस्वाभाविक नहीं कहा तो बहुत लोगों ने उसे पसंद किया। आचार्यश्री ने जब अहिंसक-प्रतिकार का विकल्प सुझाया तो बहुत लोग उसमें सहमत नहीं हुए। इसमें भारतीय आत्मा की नाड़ी-परीक्षा हो गई। आज भी अधिकांश भारतीय अहिंसा को कायरता मान बैठे हैं। वे सोचते हैं कि पराक्रमी लोग इसे नहीं अपना सकते। उनका यह चिन्तन कारण-शून्य भी नहीं है। हमारे यहां अहिंसा का जितना प्राणि-दया के रूप में विकास हुआ है, उतना प्रतिकारात्मक शक्ति के रूप में नहीं हुआ है। हम किसी को न मारें—यह अहिंसा का एक पक्ष है। इस करुणात्मक पक्ष से हम दूसरों पर अपने द्वारा होने वाले अन्याय से बच सकते हैं किन्तु कोई दूसरा हमारे पर अन्याय करे, उससे नहीं बच सकते। उससे बचने का उपाय है अहिंसा की प्रतिकारात्मक शक्ति का विकास। यदि यह हो तो कोई हमारे साथ अन्याय करने का दुस्साहस कर ही नहीं सकता। आचार्यश्री तुलसी अहिंसक प्रतिकार की बात कहकर जनता को कायर नहीं बनाना चाहते किन्तु उस कायरता से उबारना चाहते हैं जो शस्त्र-सज्जा होने पर भी मन के गह्वर में छिपी रहती है। आचार्यश्री ने यह नहीं सुझाया कि आपकी निष्ठा शस्त्र-बल में हो। मन में भय और कायरता छिपी हो उस स्थिति में आप अहिंसक-प्रतिकार करें। शस्त्र, भय और कायरता का अहिंसा से कोई मेल ही नहीं है। आचार्यश्री कहते हैं कि केवल भारत ही नहीं समूचा संसार अहिंसक-प्रतिकार का मार्ग अपनाए। पर अपनाए तभी और उसी स्थिति में जब उसका पराक्रम आत्मा से प्रस्फुटित हो, मन का कोई एक भी कोना भय से भरा न हो और शस्त्र पर से आस्था उठ गई हो। वे चाहते हैं कि भारत ऐसा शक्तिशाली बने। मैं नहीं कहता कि उनकी कल्पना एक ही दिन, मास या वर्ष में सफल हो जाएगी किन्तु मैं मानता हूं कि कोई भी कल्पना एक दिन अवश्य सफल होती है। इसलिए उसकी सफलता में हमें कोई संदेह नहीं होना चाहिए।

प्रथम बार हम उसकी सफलता की परीक्षा करने का यत्न न करें किन्तु यही देखें कि वह अच्छी है या नहीं। मुझे लगता है कि वह कल्पना बहुत अच्छी है। युद्ध समस्या का स्थायी समाधान नहीं है। दास-प्रथा और

राजतन्त्र-प्रथा के विरोध का आदिम इतिहास भी सन्देह की सकरी पग डण्डियो मे से गुजरा है पर आज कोई दास नही है और राजे भी इतिहास की वस्तु बन गए है।

अहिंसा के प्रति जन-मानस मे जो सन्देह है वह निर्हेतक नही है। अहिंसा मे निष्ठा न रखने वालो ने करुणात्मक पक्ष को जिस रूप मे प्रस्तुत किया उस रूप मे प्रतिकारात्मक पक्ष को नही। इसीलिए अहिंसक भी बहुत बार भीरुवत् व्यवहार करते दिखाई देते है। सही अर्थ मे वे अहिंसक है भी कहा?

प्रतिकारात्मक शक्ति का विकास स्थिति के अस्वीकार पर निर्भर है। हिंसा का अर्थ है स्थिति का स्वीकार और अहिंसा का अर्थ है स्थिति का अस्वीकार। यह तभी हो सकता है जब हमारी निष्ठा अध्यात्म मे हो यानी आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को हम स्वीकार करें। जो स्थिति को स्वीकार करता है वह आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को अस्वीकार करता है और जो आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करता है वह स्थिति को अस्वीकार करता है। वह कैसा अहिंसक और कैसा अध्यात्मवादी जो स्थिति को मान्यता दे यह समझ मे आने वाली बात है पर आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता मे निष्ठा रखने वाला उस मान्य करे यह समझ से परे है।

प्रतिकारात्मक शक्ति का अर्थ किसी की सत्ता या किसी के कर्म का प्रतिरोध करना नही है। उसका अर्थ है स्वतन्त्र कर्म शक्ति का निर्माण। परिस्थिति से प्रभावित होकर हम जितना भी कर्म करते है वह हमारा कर्म नही किन्तु प्रतिकर्म होता है। हमारी अधिकांश प्रवृत्तिया क्रियात्मक नही किन्तु प्रतिक्रियात्मक ही होती है। हम बाह्य परिस्थिति से अप्रभावित रहकर कर्म करने लगे तो हममे प्रतिकारात्मक शक्ति का उदय स्वय हो जाय।

अधरे मे भून को स्वीकार करने से डर लगता है। गाली को स्वीकार करने मे क्रोध उभरता है। अपनी हीनता के स्वीकार से ही दूसरे के प्रति जलन पैदा होती है। यह दोष स्थिति मे नही [illegible] उसके स्वीकार मे है। हम किसी दूसरे व्यक्ति के हस्तक्षेप को अपनी स्वतन्त्र सत्ता म बाधा मानते है पर परिस्थिति के हस्तक्षेप को वैसा नही मानते। सचाई तो यह है कि वह

हमारे कर्म में जितना हस्तक्षेप करती है, उतना कोई व्यक्ति कर ही नहीं सकता। चीन ने भारत पर आक्रमण किया, यह स्थिति का स्वीकार है। भारत यदि अपने स्वतंत्र कर्म में सलग्न होता, वर्तमान के प्रति नितांत जागरूक होता तो वह ऐसा कर ही नहीं पाता। भारत का सशस्त्र प्रत्याक्रमण भी स्थिति का स्वीकार है। यह कोई स्वतंत्र कर्म नहीं केवल प्रतिक्रिया की प्रतिक्रिया है। हम कहते हैं कि क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। पर वास्तव में हमें कहना चाहिए कि प्रतिक्रिया की प्रतिक्रिया होती है। स्थिति में दबे हुए जगत् में शुद्ध क्रिया होती कहां है? मैं अपनी श्लाघा सुनकर फूलता हूं और अपनी निन्दा सुनकर म्लान होता हूं, ये दोनों—फूलना और म्लान होना स्वतंत्र कर्म नहीं है, किन्तु प्रतिकर्म है। मैं ऐसा करके अपनी स्वतंत्र सत्ता का अनुभव नहीं करता किन्तु परिस्थिति का खिलौना बनता हूं। इस दशा में मैं अहिंसक का नाम रखकर भी अहिंसक नहीं हो सकता हूं।

हम लोग स्थिति के स्वीकार की दुनिया में खड़े होकर सशस्त्र प्रतिकार की बात सुनते हैं तब हमें वह असंभव लगती है। अपनी पूर्ण स्वतंत्रता की आस्था के जगत् में खड़े होकर हम देखें तो दिखेगी कि सुरक्षा वस्तु में नहीं अपने में है, शक्ति वस्तु में नहीं अपने में है। वस्तु में हम ही अपनी शक्ति को आरोपित करते हैं और हम स्वयं को उसके सामने शक्तिहीन अनुभव करते हैं।

अहिंसक प्रतिकार हमारी आस्था का प्रश्न है। हिंसा में निष्ठा है, वे शस्त्र-बल को जगा रहे हैं। अहिंसा-निष्ठ व्यक्ति अभय को जगाएं। वह परमाणु बम से भी अधिक शक्तिशाली अस्त्र है। उसकी शक्ति की हम कोई कल्पना नहीं कर सकते। हमारे मन में भय होता है तभी हमारे पर कोई आक्रमण कर सकता है, शासन थोप सकता है और कुछ भी कर सकता है। हम अभय हो जाते हैं, हमें मृत्यु की असीम शक्ति प्राप्त हो जाती है, दुनिया की कोई भी शक्ति हमें आक्रान्त नहीं कर सकती। पर-शासित वही जाति होती है, जिसके पास अपना आस्था-बल नहीं होता।

अस्तित्व का प्रश्न

यह हमारी दुनिया अनेक व्यक्तियों जातियों धर्मों भाषाओं राष्ट्रों और शासन प्रणालियों का संगम है। मनुष्यों में अनेक प्रकार की आकांक्षाएं संदेह भय परस्पर विरोधी हित भावनाएं हैं। विस्तार और प्रसारवादी शक्तियां सदा सक्रिय हैं। संघर्ष इन परिस्थितियों का अपरिहार्य परिणाम है। संघर्ष के स्फुलिंग तब तक उछलते रहेंगे जब तक अनेकता भेद या विभाजन की रेखाएं होंगी।

इस निष्कर्ष पर पहुंचने के बाद शान्ति के प्रयत्न शिथिल नहीं होते किन्तु अधिक उद्दीप्त होते हैं। शान्ति के प्रयत्न संघर्ष के स्फुलिंगों को अस्तित्वहीन बनाने के लिए नहीं हैं किन्तु इसलिए हैं कि स्फुलिंग अग्नि के रूप में न बदल जाएं। शान्ति के प्रयत्न करते रहना मानवीय विवेक का अपरिहार्य भाग है। शान्ति का भाग्य उन कुछेक लोगों की छत्रछाया में पल रहा है जो सत्ता पर आरूढ़ हैं। जनता के भाग्य में अशान्ति का परिणाम भुगतना बचा है पर शान्ति की डोर उसके हाथ से छूट चुकी है। एकाधिकार राजनीतिक प्रभुत्व के युग में जनता के प्रतिनिधि शान्ति की चर्चा कर उसका क्या विरोध अब है, मैं नहीं जानता। यह बहुत स्पष्ट है कि जनता शान्ति और अशान्ति के लिए आज प्रत्यक्ष उत्तरदायी नहीं है। मेरी दृष्टि में आज का मुख्य प्रश्न शान्ति या तनाव कम करने का नहीं है। आज का मुख्य प्रश्न यह है कि शान्ति और अशान्ति के लिए जनता प्रत्यक्ष उत्तरदायी कैसे हो? यदि युद्ध और आक्रमण की लगाम जनता और सरकार दोनों के सामंजस्यपूर्ण हाथों में हो तो अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में अकल्पित परिवर्तन आ जाए।

जन-शक्ति हमेशा मानवता का समर्थन करती है। किन्तु राज्य शक्ति

का ध्यान हमेशा विस्तार और प्रसार की ओर केन्द्रित रहता है। उपनिवेशवाद इसी मनोवृत्ति की देन है। शस्त्रीकरण और उपनिवेश दोनों एक ही स्रोत से फूटे हुए दो प्रवाह हैं। आदि में दोनों एक हैं, मध्य में दोनों विभक्त हो जाते हैं और अन्त में दोनों फिर मिल जाते हैं। शस्त्र-शक्ति का अपना महत्त्व है। पर उसे जितना असीम महत्त्व दिया जा रहा है उतना ही दिया जाता रहा तो निःशस्त्रीकरण की समस्या कभी नहीं सुलझेगी। विश्व-राज्य या अन्तर्राष्ट्रीय सरकार की स्थापना उपनिवेश और शस्त्रीकरण की बढ़ती हुई होड़ के अन्त का एक महत्त्वपूर्ण कदम हो सकता है।

विभाजन उपयोगिता के लिए होता है पर उसकी जितनी रेखाएं खींची जाती हैं, उतनी ही दूरी बढ़ जाती है। विश्व-शान्ति के लिए यह बहुत अपेक्षित है कि इन विभाजन-रेखाओं को जितना संभव हो सके, उतना कम करने का प्रयत्न किया जाए।

यातायात के साधनों की अविकसित दशा में अनेक राष्ट्र, अनेक जातियां और शासन-प्रणालियां अपनी-अपनी परिधि में चलती थीं। आज के यातायात के विकसित साधनों ने दुनिया को बहुत छोटा बना दिया है। उसकी दूरी सिमट गई है। परिधियां समाप्त हो गई हैं। इस नयी स्थिति में एक राष्ट्र, एक जाति और एक शासन-प्रणाली के सिद्धान्त का बहुत महत्त्व घट गया है। इसका भविष्य बहुत उज्ज्वल दिखाई दे रहा है। इस कल्पना को मूर्त रूप देने में कम उलझनें नहीं हैं, किन्तु विभाजन की रेखाओं को मिटाए बिना उलझनों का अंत ही नहीं आ सकता तब उन-उन उलझनों को सुलझाने के सिवाय शान्ति के पक्ष में और चारा ही क्या है?

विश्व-राज्य का सिद्धान्त भी मेरी दृष्टि में राजनैतिक सिद्धान्त है। शान्ति का आध्यात्मिक सिद्धान्त सह-अस्तित्व का विचार है। अनेक धाराएं भी सह-अस्तित्व का विकास होने पर एक धारा की भांति व्यवहार कर सकती हैं। किन्तु यह चार आना राजनैतिक पक्ष है और बारह आना आध्यात्मिक पक्ष है। और गहराई में उतरें तो अनुभव होगा कि यह सोलह आना आध्यात्मिक पक्ष है। इस पक्ष की पुष्टि के लिए आध्यात्मिक सिद्धान्तों को विकसित और पुष्ट करना आवश्यक है।

अस्तित्व का प्रश्न

यह हमारी दुनिया अनेक व्यक्तियों जातियों धर्मों भाषाओं राष्ट्रों और शासन प्रणालियों का संगम है। मनुष्यों में अनेक प्रकार की आकांक्षाएं संदेह भय परस्पर विरोधी हीन भावनाएं हैं। विस्तार और प्रसारवादी शक्तियां सदा सक्रिय हैं। संघर्ष इन परिस्थितियों का अपरिहार्य परिणाम है। संघर्ष के स्फुलिंग तब तक उछलते रहेंगे जब तक अनेकता भेद या विभाजन की रेखाएं होंगी।

इस निष्कर्ष पर पहुंचने के बाद शान्ति के प्रयत्न शिथिल नहीं होते किन्तु अधिक उद्दीप्त होते हैं। शान्ति के प्रयत्न संघर्ष के स्फुलिंगों को अस्तित्वहीन बनाने के लिए नहीं हैं किन्तु इसलिए हैं कि स्फुलिंग अग्नि के रूप में न बदल जाएं। शान्ति के प्रयत्न करते रहना मानवीय विवेक की अपरिहार्य मांग है। शान्ति का भाग्य उन कुछेक लोगों की छत्रछाया में पल रहा है, जो सत्ता पर आरूढ़ हैं। जनता के भाग्य में अशान्ति का परिणाम भुगतना बचा है पर शान्ति की डोर उसके हाथ से छूट चुकी है। एकाधिकार राजनीतिक प्रभुत्व के युग में जनता के प्रतिनिधि शान्ति की चर्चा करें उसका क्या विशेष अर्थ है मैं नहीं जानता। यह बहुत स्पष्ट है कि जनता शान्ति और अशान्ति के लिए आज प्रत्यक्ष उत्तरदायी नहीं है। मेरी दृष्टि में आज का मुख्य प्रश्न शान्ति या तनाव कम करने का नहीं है। आज का मुख्य प्रश्न यह है कि शान्ति और अशान्ति के लिए जनता प्रत्यक्ष उत्तरदायी कैसे हो? यदि युद्ध और आक्रमण की लगाम जनता और सरकार दोनों के सामंजस्यपूर्ण हाथों में हो तो अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में अकल्पित परिवर्तन आ जाए।

जन-शक्ति हमेशा मानवता का समर्थन करती है। किन्तु राज्य-शक्ति

का ध्यान हमेशा विस्तार और प्रसार की ओर केन्द्रित रहता है। उपनिवेशवाद इसी मनोवृत्ति की देन है। अस्त्रीकरण और उपनिवेश दोनों एक ही स्रोत से फूटे हुए दो प्रवाह हैं। आदि में दोनों एक हैं, मध्य में दोनों विभक्त हो जाते हैं और अन्त में दोनों फिर मिल जाते हैं। राज-शक्ति का अपना महत्त्व है। पर उसे जितना असीम महत्त्व दिया जा रहा है उतना ही दिया जाता रहा तो निःअस्त्रीकरण की समस्या कभी नहीं सुलझेगी। विश्व-राज्य या अन्तर्राष्ट्रीय सरकार की स्थापना उपनिवेश और शस्त्रीकरण की बढ़ती हुई होड़ के अंत का एक महत्त्वपूर्ण कदम हो सकता है।

विभाजन उपयोगिता के लिए होता है पर उसकी जितनी रेखाएं खींची जाती हैं, उतनी ही दूरी बढ़ जाती है। विश्व-शान्ति के लिए यह बहुत अपेक्षित है कि इन विभाजन-रेखाओं को जितना संभव हो सके, उतना कम करने का प्रयत्न किया जाए।

यातायात के साधनों की अविकसित दशा में अनेक राष्ट्र, अनेक जातियां और शासन-प्रणालियां अपनी-अपनी परिधि में चलती थीं। आज के यातायात के विकसित साधनों ने दुनिया को बहुत छोटा बना दिया है। उसकी दूरी सिमट गई है। परिधियां समाप्त हो गई हैं। इस नयी स्थिति में एक राष्ट्र, एक जाति और एक शासन-प्रणाली के सिद्धान्त का बहुत महत्त्व बढ़ गया है। इसका भविष्य बहुत उज्ज्वल दिखाई दे रहा है। हम कल्पना को मूर्त रूप देने में कम उलझनें नहीं हैं, किन्तु विभाजन की रेखाओं को मिटाए बिना उलझनों का अंत ही नहीं आ सकता तब उन-उन उलझनों को सुलझाने के सिवाय शान्ति के पक्ष में और चारा ही क्या है ?

विश्व-राज्य का सिद्धान्त भी मेरी दृष्टि में राजनीतिक सिद्धान्त है। शान्ति का आध्यात्मिक सिद्धान्त सह-अस्तित्व का विचार है। अनेक धाराएं भी सह-अस्तित्व का विकास होने पर एक धारा की भांति व्यवहार कर सकती हैं। किन्तु यह चार आना राजनैतिक पक्ष है और बारह आना आध्यात्मिक पक्ष है। और गहराई में उतरें तो अनुभव होगा कि यह सोलह आना आध्यात्मिक पक्ष है। इस पक्ष की पुष्टि के लिए आध्यात्मिक सिद्धान्तों को विकसित और पुष्ट करना आवश्यक है।

जिस व्यक्ति के मन मे विषमता होती है उसमे अहिंसा पनप नही सकती। जिस राष्ट्र मे आर्थिक जातीय और साम्प्रदायिक विषमता होती है वहा जनतन्त्र नही पनप सकता।

एशियायी राष्ट्र अभी जनतन्त्र के प्रभात की स्थिति मे है। अभी उनमे विषमता के तीनो प्रकार प्राप्त है। एशियायी राजनयिको ने जनतन्त्र का मार्ग पूर्व-मान्यता के रूप मे चुना है। उसे वरदान के रूप मे प्रमाणित करना अभी शेष है।

इसमे कोई सदेह नही कि जनतन्त्र का विकल्प शासन प्रणाली के इतिहास मे सर्वाधिक सफल है। स्वतन्त्रता व्यक्ति की सर्वोत्तम निधि है। वह उसकी सुरक्षा के लिए अपने प्राणो की आहुति देने को भी तत्पर रहता है। शासन-क्षेत्र मे स्वतन्त्रता अपहृत होती है किन्तु जनतन्त्र की प्रणाली स्वतन्त्रता-अपहरण के दोष से अपने को अधिक मुक्त रख सकी है।

व्यक्ति शासन के अधीन होता है उसके दो हेतु है

१ सुरक्षा का आश्वासन

२ सहयोग का आश्वासन

व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता देता है और उसके बदले मे सुरक्षा एव सहयोग प्राप्त करता है। किन्तु कोई भी व्यक्ति सुरक्षा और सहयोग की उपलब्धि के लिए अपनी स्वतन्त्रता से हाथ धोना नही चाहता।

अधिनायकतावादी शासन-प्रणाली मे तन्त्र की सुव्यवस्था और सुस्थिरता होती है फिर भी उसमे व्यक्ति को वह मूल्य प्राप्त नही होता जो उसे चेतनावान् होने के नाते प्राप्त है।

लोकतन्त्रीय प्रणाली मे व्यवस्था और स्थिरता का पक्ष कभी-कभी दुर्बल भी रहता है पर उसमे हर व्यक्ति को विकास का समान अवसर प्राप्त होता है।

व्यक्ति समाज मे विलीन होकर भी जहा अपनी वैयक्तिकता को सुरक्षित पाता है, वहा वह अधिक सतोष का अनुभव करता है। इस तोष की अनुभूति ने ही जनतन्त्र को विकासशील बनाया है।

एशिया अभी तक वर्तमान युग की गति के साथ नही है। आर्थिक राजनीतिक और वैज्ञानिक उपलब्धियो मे अभी वह पश्चिमी राष्ट्रो से

पीछे है। किन्तु जनतन्त्र के लिए जिस मानवीय चेतना का विकास अपेक्षित है, वह एशिया में कम नहीं है। मानवीय स्वतंत्रता और समानता के संस्कार यहां चिर अतीत से पल्लवित होते रहे हैं। एशिया की आध्यात्मिक चेतना के साथ यदि किसी शासन-प्रणाली का समुचित योग हो सकता है तो वह लोकतंत्र ही है।

जनतंत्र के विकास के लिए एशिया अत्यन्त उर्वर है। फिर भी सामयिक स्थितियों का विश्लेषण करते समय उसमें जनतंत्र के पल्लवन की भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। इस संदेह की पृष्ठभूमि में तीन तत्त्व छिपे हैं

१ प्रभुत्व-विस्तार की भावना
२ गुटबन्दी
३ साम्प्रदायिक पक्षपात

जो बड़े राष्ट्र हैं, आर्थिक, राजनीतिक और वैज्ञानिक उपलब्धियों से सम्पन्न हैं। वे अपने प्रभुत्व का विस्तार चाहते हैं। इस आकांक्षा के आधार पर दो गुट बन गए हैं

१ साम्यवादी
२ असाम्यवादी

एशिया में दोनों प्रकार के राष्ट्र हैं और तीसरे प्रकार के भी हैं—जो किसी गुट में नहीं है, तटस्थ हैं। हिन्दुस्तान दुनिया का सबसे बड़ा जनतन्त्र होने के साथ-साथ दुनिया का सबसे बड़ा तटस्थ राष्ट्र है।

दो गुटों के बीच में शक्तिशाली तटस्थ राष्ट्रों का अस्तित्व सेतु का काम करता है। किन्तु राजनीति में सेतु की अपेक्षा अपने स्वार्थों की पूर्ति का महत्त्व कहीं अधिक है।

अमरीका जनतंत्र की सुरक्षा या साम्यवाद के विस्तार को रोकने के लिए हर सम्भव प्रयत्न कर रहा है। क्या इस तथाकथित प्रचार में सचाई है? पाकिस्तान अमरीकी गुट में है। सही अर्थ में वह जनतंत्री भी नहीं, साम्यवादी भी नहीं है। किन्तु अधिनायकतावादी है। उसने महान् लोकतंत्र को क्षत-विक्षत करने का शक्तिशाली प्रयत्न किया और उस अमरीका के शक्ति-संरक्षण में किया, जो जनतंत्र के विस्तार में सबसे अगुआ है।

यह विरोधाभास कितना आश्चर्यकारी है। ... विस्तार की अदम्य उत्कण्ठा और दूसरी ओर एक महान जनतन्त्र के विकासमान पौधे पर कुठाराघात ?

इसी बिन्दु पर पहुंचकर हम राजनीति की आत्मा को देख पाते है कि उसका गठबन्धन सिद्धान्त के साथ उतना नही होता जितना स्वार्थ-पूर्ति के साथ होता है।

कुछ राष्ट्रो का आदर्श साम्प्रदायिकता है तो कुछ राष्ट्रो का सम्प्रदाय निरपेक्षता। एशिया मे दोनो प्रकार के राष्ट्र है। हिन्दुस्तान सम्प्रदाय निरपेक्ष राष्ट्र है। पाकिस्तान का आधार साम्प्रदायिकता है। साम्प्रदायिक राष्ट्र साम्प्रदायिकता के आधार पर दूसरे राष्ट्रो से समर्थन पाते और देते है।

स्वार्थ-पूर्ति और साम्प्रदायिकता के आधार पर किया जाने वाला पक्षपात जनतन्त्र के भविष्य के लिए सबसे बड़ा खतरा है। इस खतरे के परिणाम केवल एशिया के जनतन्त्र देशो को ही नही सारी दुनिया के जनतन्त्र देशो को भुगतने होगे।

जनतन्त्र का विकास और सुरक्षा दूसरे राष्ट्रो की स्वतन्त्र चेतना को कुण्ठित करने के प्रयत्न से नही हो सकती। वह हो सकती है उनकी स्वतन्त्र चेतना के उपयोग मे सहयोग देने से। यदि इस तथ्य की ओर ध्यान नही दिया गया तो एशिया मे ही नही सारी दुनिया मे जनतन्त्र का भविष्य उज्ज्वल नही है।

साम्प्रदायिक कट्टरता वैज्ञानिक उपलब्धियो के साथ अपने-आप मिटने वाली है। इससे जनतन्त्र को दीर्घकालीन खतरा नही है। जिससे दीर्घकालीन खतरा है वह है प्रभुत्व विस्तार की भावना। यह परतन्त्रता का सूत्र है जो जनतन्त्र के मूल आधार—स्वतन्त्रता पर प्रहार करता है।

स्वतन्त्रता और आर्थिक विकास की सम्भावना जनतन्त्र मे किसी अन्य प्रणाली से अधिक है यह मान्यता पुष्ट होती जा रही है। इसलिए उक्त कठिनाइयो के उपरान्त भी जनतन्त्र का भविष्य प्रकाशमय प्रतीत होता है। जिस एशिया ने इस आध्यात्मिक मन्त्र को पढ़ा है—आत्मा का शासन आत्मा के द्वारा आत्मा के लिए—वह महामनीषी लिंकन के उस वाक्य को अनादृत नही करेगा—जनता का शासन जनता के द्वारा जनता के लिए।

लोकतन्त्र और नागरिक अनुशासन

सारी इच्छाओं का केन्द्र मन है और मन की इच्छा का केन्द्र है स्वतन्त्रता। मन अपनी इच्छा से चलना चाहता है। वह अपने क्षेत्र में दूसरों का हस्तक्षेप नहीं चाहता। यह सार्वभौम स्वतन्त्रता मन का शाश्वत स्वभाव है।

व्यक्ति यदि अकेला ही होता तो वह अपनी सार्वभौम स्वतन्त्रता का उपयोग कर पाता, किन्तु आज वह अकेला नहीं है। वह सामाजिक जीवन जी रहा है। इसलिए उसकी स्वतन्त्रता सीमित है। चाहे-अनचाहे उसमें दूसरों का हस्तक्षेप भी होता है। इसका अर्थ यह है कि सामाजिक जीवन स्वतन्त्रता और परतन्त्रता का मिश्रित रूप है।

प्रजातन्त्र व्यक्ति को अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रता देता है। किन्तु आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना क्या सामाजिक या राजनीतिक स्वतन्त्रता फलित होती है? गरीबी के कारण न जाने कितने लोग आज भी अनेक परतन्त्रताओं या विवशताओं में जकड़े हुए हैं। चिन्तन की स्वतन्त्रता के बिना भी ऐसा ही होता है। अशिक्षित लोग भी विवशता की पकड़ से मुक्त नहीं होते।

मैं जिस भाषा में सोचता हूं उसमें जनतन्त्र का स्वरूप कुछ दूसरा है। वर्तमान स्वरूप से भिन्न और बहुत भिन्न। मैं निर्वाचन पद्धति को देखता हूं तो लगता है यह जनतन्त्र है और जब शासन प्रणाली को देखता हूं तो लगता है कि यह कठोर राजतन्त्र है।

जिस शासन में नियन्त्रणों का अधिक भार, शासन का अधिक दबाव और कानून का अधिक विस्तार हो, क्या वह जनतन्त्र हो सकता है?

सीमित नियन्त्रण, सीमित दबाव और सीमित कानून—इनका समन्वित रूप जनतन्त्र। असीम इच्छा, असीम प्रयत्न और असीम उच्छृंखलता—इनका समन्वित रूप मनुष्य का सामान्य स्वभाव।

प्राकृतिक रूप से मनुष्य-स्वभाव और जनतन्त्र की पद्धति में मेल नहीं है किन्तु उनका मेल बिठाया जाता है। मनुष्य कुछ स्वभाव से बदलता है और कुछ जनतन्त्र। नियन्त्रण का थोड़ा विस्तार और इच्छा का थोड़ा संकोच, दबाव का थोड़ा विस्तार और प्रयत्न का थोड़ा संकोच, कानून का थोड़ा विस्तार और उच्छृंखलता का थोड़ा संकोच—यह जनतन्त्र का आकार बनता है। आज का जनतन्त्र इस आकार का नहीं है इसलिए जनता और शासन दोनों ओर से अधिक दबाव आ रहा है।

मैं नहीं कहता कि जनता का दबाव कम हो और सरकार का दबाव बढ़े या सरकार का दबाव कम हो और जनता का दबाव बढ़े। ये दोनों विकल्प जनतन्त्र के लिए स्वस्थ नहीं हैं। उसकी स्वस्थता इसमें है कि दोनों ओर का दबाव घटे। जनतन्त्र में निरंकुश शासक और निरंकुश जनता दोनों खतरनाक होते हैं। इस खतरनाक स्थिति के लक्षण हाल की घटनाओं में प्रकट हो रहे हैं। दूकानों की लूट, अग्निकाण्ड, शस्त्रों का प्रयोग, पथराव और गोलियों की बौछार—ये अनुशासित नागरिकों के चरण चिह्न नहीं हैं। सरकारी निर्णय के विरुद्ध वैधानिक उपाय काम में लिए जाते हैं यह अनुचित नहीं किन्तु अराजकतापूर्ण स्थिति का निर्माण उचित भी नहीं है। इससे जनतन्त्रीय प्रणाली को आघात पहुंचता है और एकाधिनायकता को बल मिलता है। सरकारी निर्णय सभी पक्षों को प्रिय लगें यह सम्भव नहीं। अप्रिय निर्णय का विरोध न हो यह भी जनतन्त्र में असम्भव है। सम्भव यह है कि विरोध की पद्धति वैधानिक एवं शालीन हो। जनता को अनुशासन विहीन बनाने में शायद किसी भी दल का हित नहीं है। आज एक दल को जनता की उत्तेजनापूर्ण और अनुशासन विहीन प्रवृत्तियों का सामना करना पड़ रहा है, कल किसी दूसरे-तीसरे दल को भी करना पड़ सकता है। जनतन्त्र का भविष्य इस प्रश्न पर निर्भर नहीं है कि शासन किस दल का है? उसका भविष्य इस तथ्य पर सुरक्षित है कि उसकी जनता अनुशासित है और हर परिस्थिति का अनुशासित ढंग से सामना कर सकती है। शासक लोग भी आग्रह से मुक्त होकर जनता की स्थिति को जानना न चाहें, वस्तुस्थिति के साथ आंख मिचौनी करें तो निश्चित रूप से अजनतन्त्रीय प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता है। मन्त्र-तन्त्र विधान

सभा की घटनाएं भी अनुशासन के प्रति अनुराग उत्पन्न करने में सफल नहीं हुई हैं। फिर केवल जनता में अनुशासन और समय की आशा कैसे की जाए ? सामंजस्य, समन्वय और सह-अस्तित्व की बात केवल अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ही अपेक्षित नहीं है। पहले उनकी अपेक्षा राष्ट्र में है—विभिन्न राजनैतिक दलों में है। विशेषतः सार्वजनिक महत्त्व की समस्याओं के समाधान के समय है। लोकतन्त्र अ-लोकतन्त्रीय उपायों से कभी सक्षम नहीं बनता। उसे सक्षम बनाने का प्रत्यक्ष दायित्व जनता पर है, प्रत्यक्षतर विधायकों पर और प्रत्यक्षतम शासकों पर। दायित्व के आधार पर यह स्वतः प्राप्त होता है—जनता अनुशासित हो विधायक अनुशासिततर और शासक अनुशासिततम।

भारतीय जनता का बहुत बड़ा भाग अशिक्षित है। यह कहना कठिन है कि जो अशिक्षित हैं वे अनुशासित नहीं हैं और जो शिक्षित हैं वे अनुशासित हैं। हमारे विद्यालयों में लोकतन्त्र के शिक्षण की पर्याप्त व्यवस्था नहीं है, इसलिए जनता में विशिष्ट अनुशासन की आशा ही कैसे की जा सकती है ?

वर्तमान वातावरण में जो परिणाम सामने आ रहे हैं, उनसे भिन्न परिणामों की आशा नहीं की जा सकती।

इन घटनाओं की पुनरावृत्तियों से हमें न आश्चर्यचकित होने की जरूरत है और न खिन्न होने की, किन्तु एक पाठ लेने की जरूरत है। वह है लोकतन्त्रीय शिक्षण की समुचित व्यवस्था। मैं इससे अधिक सफलता देखता हूं कि हमारा ध्यान वर्तमान की घटनाओं पर ही न अटके किन्तु जिन कारणों से वे घटित हो रही हैं, वहां तक पहुंचे और उनके निवारण में लगे।

युद्ध और अहिंसा

भारत अहिंसा का मूल स्रोत है। वह उसकी प्रतिष्ठा चाहता है। भारतीय धार्मिको एव दार्शनिको ने ही नही किन्तु वर्तमान राजनयिको ने भी अहिंसा की प्रतिष्ठा का प्राणपण से प्रयत्न किया है। प्रधानमन्त्री श्री नेहरू ने विश्वशान्ति के लिए प्रभावपूर्ण ढग से अहिंसा का अवलम्बन लिया था। शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व सहिष्णुता अनाक्रमण समझौता वार्ता द्वारा विवादो का निपटारा और निःशस्त्रीकरण—सब राजनीति के आकाश मे एक दिन पचशील नक्षत्र की भाति चमक उठा। लगा कि विश्वशान्ति मे उसका महत्वपूर्ण योग होगा। चीन और भारत जैसे दो महान देशो के प्रमुखो ने विश्व के सम्मुख उसका यह रूप प्रस्तुत किया

१ एक-दूसरे की प्रादेशिक या भौगोलिक अखण्डता एव सार्वभौमिकता का सम्मान।
२ आक्रमण न करना।
३ आर्थिक राजनैतिक अथवा सैद्धान्तिक—किन्ही भी कारणो से एक दूसरे के घरेलू मामलो मे हस्तक्षेप न करना।
४ समानता एव परस्पर लाभ।
५ शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व।

बाडुग सम्मेलन मे पचशील मे वाम और सिद्धान्तो का समावेश कर [illegible] २९ राष्ट्र द्वारा स्वीकृत किया गया।

१ मूल मानव अधिकारो और सयुक्त राष्ट्र सघ के उद्देश्यो प्रयोजनो और सिद्धान्तो के प्रति आदर।
२ सभी राष्ट्र की प्रभुसत्ता और प्रादेशिक अखण्डता के लिए सम्मान।
३ छोटे-बडे सभी राष्ट्र और जातियो की समानता की मान्यता।
४ अन्य देशो के घरेलू मामलो मे हस्तक्षेप न करना।
५. सयुक्त राष्ट्र उद्देश्य-पत्र के अनुसार अकेले अथवा सामूहिक रूप से

आत्मरक्षा के प्रत्येक राष्ट्र के अधिकार के प्रति आदर।

६ किसी भी बड़ी शक्ति के स्वार्थ की पूर्ति के लिए सामूहिक सुरक्षा के आयोजनों के उपयोग से अलग रहना, एक देश का दूसरे देश पर दबाव न डालना।

७ ऐसे कार्यों, आक्रमण अथवा बल-प्रयोग की धमकियों से अलग रहना जो किसी देश की प्रादेशिक अथवा राजनैतिक स्वाधीनता के विरुद्ध हों।

८ सभी आन्तरिक झगड़ों का शान्तिपूर्ण उपायों से निपटारा करना।

९ पारस्परिक हित एवं उपयोग को प्रोत्साहन देना।

१० न्याय और अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों के लिए सम्मान।

११ जून, १९५५ को नेहरू-बुलगानिन के संयुक्त वक्तव्य पर हस्ताक्षर होने के साथ पंचशील का क्षेत्र सैकड़ों गुना बढ़ गया। इस वक्तव्य में पंचशील का तीसरा सिद्धान्त और भी व्यापक रूप में स्वीकार किया गया। तीसरे सिद्धान्त का जो नया रूप बना, वह इस प्रकार था—किसी भी राजनीतिक, आर्थिक अथवा सैद्धान्तिक कारण से एक-दूसरे के मामलों में हस्तक्षेप न करना।

भारत ने अपने शान्ति-प्रयत्न और भी तीव्र कर दिये थे। उसके शासक सम्भवतः इस तथ्य को भुला चुके थे जहां भौतिकता होती है, वहां स्वत्व होता है और जहां स्वत्व होता है, वहां सुरक्षा भी आवश्यक होती है और इस तथ्य को भी विस्मृत कर चुके थे कि कूटनीति की छाया में पलने वालों का अन्तस्तल कभी भी अपने को बाह्य जगत् में प्रकट नहीं करता। भारत में चीन का आक्रमण होने पर ही उनको इस सत्य का साक्षात् हुआ कि भारत-जैसे शान्तिप्रिय और शान्तिरत देश पर भी कोई आक्रमण कर सकता है और वह भी एक प्राचीन मित्र।

वर्तमान युद्ध का अतीत यह है और वर्तमान सामने है। युद्ध का समय सबके लिए बड़ा विकट होता है। उसके समर्थन और असमर्थन का प्रश्न ज्वलन्त हो जाता है। इस समय सिद्धान्तवादी लोग लगभग तीन विचार-श्रेणियों में बंटे हुए हैं

१ आक्रमण में विश्वास रखने वाले हिंसावादी।

२ प्रत्याक्रमण मे विश्वास रखने वाले मध्यममार्गी।
३ अनाक्रमण मे विश्वास रखने वाले अहिंसावादी।

अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद मे विश्वास रखने वाले हिंसावादी लोग जैसे अपने देश के प्रति कोई विशेष अनुराग नही रखते वैसे ही प्राणी मात्र के प्रति सद्भावना मे विश्वास रखने वाले अहिंसावादी भी किसी देश विशेष के प्रति अनुराग नही रखते किन्तु दोनो एक श्रेणी के नही होते। हिंसावादी के सामने शत्रु और मित्र का विभाग होता है। अहिंसावादी के सामने वह विभाग नही होता। वह किसी को शत्रु नही मानता।

आचार्यश्री तुलसी अहिंसावादी है। अहिंसा की सक्रिय आराधना मे वे प्राणपण से सलग्न है। उनकी आत्मा युद्ध का क्या किसी छोटे-से छोटे विग्रह का भी समर्थन नही कर सकती। वे आक्रमण को घोर हिंसा मानते है। प्रत्याक्रमण उनकी दृष्टि मे अहिंसा नही है किन्तु आक्रमण और प्रत्याक्रमण भी एक कोटि की हिंसा है यह भी उनका अभिमत नही है। आक्रमण घोर और अनर्थकारी हिंसा है। इसलिए उसके समर्थन का प्रश्न ही नही आता। प्रत्याक्रमण भी अहिंसा नही है इसलिए उसका समर्थन भी एक अहिंसावादी कैसे कर सकता है? किन्तु जैसे आक्रमण का तिरस्कार या विरोध किया जा सकता है, वैसे प्रत्याक्रमण का तिरस्कार या विरोध नही किया जा सकता।

कुछ अहिंसावादी लोग जिनका हिंसा और अहिंसा-सम्बन्धी चिन्तन बहुत स्पष्ट नही है इस पर आश्चर्यचकित हैं कि आचार्यश्री तुलसी ने युद्ध का विरोध नही किया। उनका मानना है कि भारत अहिंसा और नि शस्त्रीकरण की बातें और युद्ध टालने का प्रयत्न करता रहा है। आज जब उस पर सकट आया तो वह तत्काल शस्त्रीकरण करने तथा युद्ध करने मे सलग्न हो गया। जब कोई सकट न आए तब अहिंसा की बात और जब सकट आए तब युद्ध यह कसी अहिंसा? यही तो कसौटी का समय है। इसी समय उसे अहिंसा के द्वारा हिंसा को परास्त कर विश्व के सम्मुख एक उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिए था। यह चिन्तन अहिंसावादी के लिए सर्वथा अर्थशून्य है यह तो नही कहा जा सकता किन्तु यह भी नही कहा जा सकता है कि यह सर्वथा भ्रान्तिशून्य है और यह भ्रान्ति इसलिए उत्पन्न हुई

कि उनकी मान्यता के अनुसार अहिंसा के द्वारा सब कुछ निष्पन्न हो सकता है। आचार्यश्री तुलसी अहिंसा की मर्यादा और उसके निश्चित परिणाम में विश्वास करते हैं। जैसा कि उन्होंने लिखा है—मैं अध्यात्म और अहिंसा के प्रति पूर्ण आस्थावान हूं, फिर भी उनसे (राष्ट्र और समाज की) सारी समस्याओं का समाधान होगा—इसे मैं भ्रम मानता हूं। भौतिक उपकरणों पर स्वत्व का विसर्जन करें तो हमारी सारी समस्याएं अध्यात्म तथा अहिंसा से सुलझ सकती हैं। किन्तु उन पर स्वत्व स्थापित रखना चाहें और शस्त्र-सज्जा से विमुख भी रहना चाहें तथा (जब) अहिंसा से सब भौतिक उपकरणों की सुरक्षा न हो तब उसे असफल भी बताएं—यह दुहरा-तिहरा भ्रम है। हमें हिंसा और अहिंसा की मर्यादा और उनके परिणामों को समझ कर ही चलना चाहिए।

भारत एक राष्ट्र है। वह भूमि, अर्थ, पदार्थ, सत्ता और अधिकार का संगठित संस्थान है। उसके शासक, जो अहिंसा की बात करते थे, वे इस अर्थ में करते थे और आज भी करते हैं कि कोई किसी पर आक्रमण न करे और आक्रमण के लिए शस्त्र-सज्जा न बढ़ाए।

कोई भी राष्ट्र जो स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में अपना अस्तित्व बनाए रखना चाहता है, प्रत्याक्रमण की मर्यादा से अपने को मुक्त नहीं रख सकता। हां, प्रत्याक्रमण की मर्यादा से राष्ट्र को तब मुक्त रखा जा सकता है, जब उसका शासक-वर्ग और जनता यह मान ले कि इस राष्ट्र पर हमारा कोई स्वत्व नहीं है, जो चाहे वह आए और इसे अपने स्वत्व में ले, यह भावना हो तो प्रत्याक्रमण की कोई भी आवश्यकता नहीं रहती। भौतिक पदार्थों का स्वत्व भी रखना चाहें और उनका संरक्षण अहिंसा के द्वारा करना चाहें—यह दुहरी भूल है। उनका संरक्षण स्वयं हिंसा है और फिर वह अहिंसा का परिणाम कैसे हो सकता है? अहिंसा के द्वारा उसी वस्तु की रक्षा हो सकती है, जो उसके परिणाम-काल में भी अहिंसा हो। भौतिक पदार्थ, सत्ता और अधिकार ये सब स्वयं हिंसा है, तब अहिंसा उनका संरक्षण कर पाए, वह कैसे हो सकता है?

उक्त विचारधारा के कुछ लोग कहते हैं—अहिंसा अणुव्रत अहिंसा का विभाजन है। आचार्यश्री तुलसी की दृष्टि में अणुव्रत अहिंसा की विभक्ति

नहीं किन्तु पहुंच का तारतम्य है। कोई भी व्यक्ति एक ही डग मे चोटी तक नही पहुंच सकता। वह धीमे धीमे आगे बढता है। भगवान महावीर ने अहिंसा की पहुंच के कुछ स्तर निर्धारित किए थे। वे वस्तु स्थिति पर आधारित है। उन्होने हिंसा को तीन भागो मे विभक्त किया

१ सकल्पजा
२ विरोधजा
३ आरम्भजा

सकल्पजा हिंसा आक्रमणात्मक हिंसा है। वह सबके लिए सर्वथा परिहार्य है। विरोधजा हिंसा प्रत्याक्रमण हिंसा है। उसे छोडने मे वह असमर्थ होता है जो भौतिक सत्ताओ पर अपना अस्तित्व रखना चाहता है। आरम्भजा हिंसा आजीविकात्मक हिंसा है। उसे छोडने मे वे सब असमर्थ होते है, जो भौतिक साधना के अर्जन-सरक्षण द्वारा अपना जीवन चलाना चाहते है।

आज चीन सकल्पजा हिंसा या आक्रमणात्मक हिंसा की स्थिति म है और हिन्दुस्तान प्रत्याक्रमण की स्थिति मे है। इस स्थिति मे भारतीय शासक यह निर्णय कैसे ले सकते है कि वे चीनी सैनिको का सशस्त्र प्रतिरोध न कर। यदि वे ऐसा निर्णय लें तो वे शासक रह ही नही सकते। यह निर्णय तो भारत की पैतालीस करोड जनता ही ले सकती है कि चीनी जिस गति से आ रहे हैं उन्हे आने दिया जाए। उनका सशस्त्र प्रतिरोध न किया जाय। यह निर्णय वह तभी ले सकती है जब भौतिक सत्ता से अपना स्वत्व हटा ले। यदि ऐसा न चाहे भौतिक सत्ता को बनाए रखना चाहे और उसका सरक्षण चाहे अहिंसा से यह असम्भव नही तो तभी सम्भव है जब सब लोग और सब राष्ट्र आक्रमण को अमानवीय कार्य मानने लग जाए।

लिए हिंसा के क्षेत्र मे कहा जाता है, शक्ति का सफल प्रतिकार शक्ति ही है।

अप अहिंसा की शक्ति बड़ी अहिंसा की शक्ति से परास्त नही इस लिए अहिंसा के क्षेत्र मे नही कहा जा सकता कि शक्ति का सफल प्रतिकार शक्ति ही है। अहिंसा की शक्ति से हिंसा की शक्ति परास्त नही होती किन्तु परिवर्तित हो जाती है। अहिंसा म मारक शक्ति नही है। उसमे हिंसक का हृदय प्रभावित हो सकता है, परिवर्तित हो सकता है अहिंसक बन सकता है पर उसका प्रभावित-परिवर्तित होना अनिवार्य नही है।

४ अन्तिम प्रश्न प्रथम प्रश्न से भिन्न नही है उसी का पूरक है। अहिंसा का स्वरूप है मैत्री का अनन्त प्रवाह। उसका जगत् सीमाओ या विभाजन रेखाओ से मुक्त होता है। राष्ट्र एक भौगोलिक सीमा है। इस लिए अहिंसा के सामने इस या उसकी सुरक्षा का प्रश्न ही नही होता। उसके सामने सबकी सुरक्षा का प्रश्न होता है।

अहिंसा की मर्यादा है सबकी सुरक्षा—प्राणी-मात्र की सुरक्षा। एक की सुरक्षा और दूसरे की अ-सुरक्षा यह अहिंसा की मर्यादा का भग है।

अहिंसा की मर्यादा है आत्मिक सुरक्षा। भौतिक सुरक्षा उससे हो सकती है—यह कहने की अपेक्षा यह कहना अधिक सरल है कि उससे नही हो सकती।

शस्त्र-शक्ति से आत्मिक सुरक्षा नही हो सकती तब हम कैसे आशा करें कि अहिंसा की शक्ति से भौतिक सुरक्षा हो सकती है।

५ अहिंसा का अस्त्र आणविक अस्त्र से भी अधिक शक्तिशाली है। किन्तु उसका प्रयोग शक्तिशाली व्यक्ति ही कर सकता है। हर व्यक्ति से उसके प्रयोग की आशा करना कठिन है। शस्त्र-शक्ति का प्रयोग एक कायर आदमी के लिए सभव नही वैसे ही अहिंसा की शक्ति का प्रयोग उस शूर वीर के लिए भी सभव नही जिसके मन मे परिग्रह और जीवन का मोह है तथा जिसका मन घृणा से भरा है।

अहिंसा की शक्ति का सामान्य प्रयोग हर आदमी कर सकता है पर उसके असाधारण प्रयोग की अपेक्षा उन व्यक्तियो से ही की जा सकती है, जिनका प्रेम घृणा पर विजय पा चुका जिनकी दृष्टि मे मनुष्य केवल मनुष्य

सह-अस्तित्व

किसी युग मे सारे मनुष्य आस्तिक और नास्तिक इन दो धाराओ मे बटे हुए थे। वर्तमान मे सब लोग सह अस्तित्व और असह अस्तित्व की धारा मे बटे हुए है। अधिकाश देश सह-अस्तित्व नि शस्त्रीकरण और समझौता-नीति मे विश्वास करते है तथा युद्ध से घृणा करते है। कुछ देश असह-अस्तित्व और विवाद बढाने मे विश्वास करते है तथा युद्ध को अनिवार्य मानते है। जितने भी विग्रह कलह या युद्ध होने है वे सब निरपेक्षता से होते है। सामाजिक जीवन का मूल आधार सापेक्षता है। भौगोलिक सीमाओ से विभक्त होने पर भी सब मनुष्य एक ही समाज के अविभक्त अग है। शरीर के अगो की सस्थान रचना और कार्य प्रणाली जैसे भिन्न होती है, वसे ही समाज के अग भूत मनुष्यो की सस्थान रचना और कार्य प्रणाली भिन्न होती है। भेद को ही सामने रखकर यदि एक अग दूसरे से निरपेक्ष होता है उसकी उपेक्षा करता है, तो अगी स्वस्थ नही रहता। एक की क्षति का फल भोग समूचे अगी को दूसरी भाषा मे सभी अगो को करना पडता है।

आज कोई एक देश दूसरे देश पर आक्रमण करता है, उससे निरपेक्ष व्यवहार करता है या उसकी उपेक्षा करता है तो उसकी प्रतिक्रिया एक छोर से दूसरे छोर तक होती है। वह प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न बन जाता है। अन्तर्राष्ट्रीयता का अर्थ ही सह-अस्तित्व है। उसका आधार है भेद और अभेद का समन्वय। विश्व मे ऐसा कोई भी पदार्थ नही है जो सर्वथा भिन्न हो या सर्वथा अभिन्न ही हो। भिन्नता और अभिन्नता की समन्विति ही पदार्थ का अस्तित्व है और यही वास्तविक सचाई है। असह-अस्तित्व का सिद्धान्त इसे झुठलाने का प्रयत्न है। पर वह सफल नही हो सकता। मनुष्य के अस्तित्व का आधार सह-अस्तित्व ही हो सकता है। असह अस्तित्व का सिद्धान्त एक मानसिक उन्माद है। एक दिन हिटलर इससे

जीव का तर्कातीत अस्तित्व

'अनेकान्त' (अगस्त १९६९) में 'जीव का अस्तित्व जिज्ञासा और समाधान' शीर्षक मेरा लेख प्रकाशित हुआ। उसके विषय में दो प्रकार की प्रतिक्रियाएं मुझे प्राप्त हुई हैं। प्रथम प्रकार की प्रतिक्रिया यह है—दर्शनशास्त्र के स्थलों को पढ़कर मुझे जीव के अस्तित्व में आस्था नहीं हुई ऐसी अभिव्यक्ति क्या एक जैन मुनि के लिए उपयुक्त हो सकती है ?

मैं पाठक की मेधा को क्या दोष दूं ? यह मेरी संक्षिप्त-शैली का ही दोष है कि मैं अपना हार्द पाठक के मन तक नहीं पहुंचा सका। मैं समझता हूं जो मैंने लिखा है, उसे विस्तार से लिखूंगा तो साधारण पाठक भी मुझसे असहमत नहीं होगा।

जैन तत्त्व विद्या के अनुसार जीव अरूपी सत्ता है। उत्तराध्ययन (१४।१९) में लिखा है—वह अमूर्त होने के कारण इंद्रिय-ग्राह्य नहीं है नो इंदिय गेज्झ अमुत्त भावा।

आचारांग (५।६) में कहा है—जीव का वास्तविक स्वरूप शब्दातीत है। तर्कणीय भी नहीं है। अर्थात् तर्क का विषय भी नहीं है। तर्क सम्भवतः पदार्थ विषयक के अस्तित्व का निर्णय करता है वह वहां नहीं है इसलिए वह तर्कातीत है। वह तर्कातीत इसलिए भी है कि मति (मन का व्यापार) से उसका ग्रहण नहीं होता।

सव्वे सरा नियट्टंति तक्का जत्थ न विज्जइ मई तत्थ न गाहिया।

आगम का उद्घोष यह है कि जीव इन्द्रिय तर्क और मति से प्राप्त नहीं है तब उनके द्वारा जीव के प्रति आस्था या अनास्था हो सकती है यह कैसे माना जाए ?

दर्शनशास्त्र हो या दूसरे शास्त्र वे सब दिशासूचक होते हैं। वे सिद्धान्त या मान्यता प्रस्तुत करते हैं। जिस व्यक्ति के संस्कार में सिद्धान्त पठता है, उसे वह मान्य हो जाता है जिसके संस्कार में नहीं पठता उसे

लिए एक होती है।

वास्तविकता तक उन लोगों की पहुंच होती है जिनका ज्ञान अतीन्द्रिय (इन्द्रियातीत) होता है। हमारा ज्ञान ऐन्द्रियिक है इसलिए हमारा जगत् मान्यता का जगत है। हमारे संस्कार आत्मवादी धारा के हैं, इसलिए हम मानते है कि जीव है। जिनके संस्कार अनात्मवादी धारा के होते हैं वे मानते है कि जीव नहीं है। वास्तव मे जीव है या नहीं है—इस वास्तविकता तक पहुंचने के साधन न उनके पास हैं जो संस्कारवश जीववादी हैं और न उनके पास है जो संस्कारवश अनात्मवादी हैं।

हम वास्तविकता तक तब पहुंच पाते है जब हमारा ज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष हो जाता है और हमारे संस्कार आत्मानुभूति के आलोक में विलीन हो जाते है।

संस्कार जब विलीन हो जाते हैं, तब हमारी मान्यताएं समाप्त हो जाती है और हमारी आस्था मे प्रत्यक्ष ज्ञान का उदय होता है। मान्यता की दृष्टि से एक आदमी कहता है जीव है और दूसरा कहता है, जीव नहीं है। इन दोनो मान्यताओ को दर्शनशास्त्र का विषय न मानना अर्थात् शब्दातीत या तर्कातीत मानना संशयवाद या अनिश्चिततवाद नहीं है। संशय की परिभाषा है—उभय कोटि संस्पर्शीज्ञान या दो अनिश्चित विकल्पों का स्वीकार जैसे यह सामने खम्भा है या आदमी ? किन्तु दो निश्चित विकल्पों का दो अपेक्षाओ से होने वाला प्रतिपादन संशय नहीं हो सकता।

संजय बेलट्ठि के संशयवाद का आकार इस तर्कसूत्र से भिन्न है। उसका आकार इस प्रकार होगा— मै नहीं कह सकता कि जीव है या नहीं है। यह संशयवाद है। यह एक व्यक्ति के दो अनिश्चित विकल्प है। मेरे तर्कसूत्र मे दो व्यक्तियो के दो निश्चित विकल्प है। इसमे वास्तविक सत्य के लिए स्थान सुरक्षित नहीं है। मैंने जो तर्कसूत्र प्रस्तुत किया है उसमें संस्कारगत सत्य माध्यमिक कसौटी और वास्तविक सत्य अन्तिम कसौटी है। इसलिए वह संशयवाद नहीं किन्तु अन्तिम सत्य की मान्यता का सिद्धान्त है। इसकी तुलना सर्वज्ञता के तर्कसूत्र से होती है। असर्वज्ञवादी ने जब तर्क प्रस्तुत किया है कि सर्वज्ञ नहीं है तब सर्वज्ञवादी ने प्रतितर्क

जीव का अस्तित्व : जिज्ञासा और समाधान

बालचन्दजी नाहटा को मैं लम्बी अवधि से जानता हूं। पुनर्भवी आत्मा में उन्हें विश्वास नहीं है। फिर भी इस विषय की खोज में वे अपना समय लगाते हैं। आचार्यश्री तुलसी वि० २०२ का चातुर्मास जब लाडनूं में बिता रहे थे तब वे वहां आए। उन्होंने मुझे 'अनेकान्त' (जून १६४२) का एक पत्र दिया और कहा कि इस प्रश्नावली पर आप अपना अभिमत लिखें। मैंने उसे पढ़ा और कहा कि अभी मैं उत्तराध्ययन के सम्पादन-कार्य में बहुत व्यस्त हूं, इसलिए इस पत्र को अपने पास रख लेता हूं। समय पर लिख सकूंगा। लगभग डेढ़ वर्ष के बाद उस पर मैं अपना अभिमत लिख रहा हूं।

प्रस्तुत प्रश्नावली जुगलकिशोरजी मुख्तार की है। वे स्वतः तत्त्वविद् व्यक्ति हैं। उनके मन में कुछ प्रश्न उठे हैं जिन्हें उन्होंने जिज्ञासु भाव से प्रस्तुत किए हैं। तेईस वर्ष पुरानी प्रश्नावली पर लिखूं यह लगता कैसा ही है पर एक व्यक्ति ने चाहा तब मेरा कर्तव्य हो गया कि उस पर कुछ लिखूं। इस प्रश्नावली में दस प्रश्न हैं और वे परस्पर सम्बद्ध हैं। इसलिए मैं अभिव्यक्त रूप से उनकी समीक्षा करना चाहूंगा।

प्रश्नावली—

१ चैतन्य गुण विशिष्ट सूक्ष्मातिसूक्ष्म अखण्ड पुद्गल पिण्ड (काय) को यदि जीव कहा जाय तो इसमें क्या हानि है—युक्ति से कौन-सी बाधा आती है?

२ जीव यदि पौद्गलिक नहीं है तो उसमें सौक्ष्म्य-स्थौल्य अथवा संकोच विस्तार क्रिया और प्रदेश परिस्पन्द कैसे बन सकता है?

३ जीव के अपौद्गलिक होने पर आत्मा में पदार्थों का प्रतिबिम्बित होना—दर्पण तलवत् झलकना—भी कैसे बन सकता है? क्योंकि प्रतिबिम्ब का ग्राहक पुद्गल ही होता है—उसी में प्रतिबिम्ब-ग्रहण की अथवा

छाया को अपने मे अंकित करने की योग्यता पायी जाती है।

४ तत्त्वार्थसूत्रादि मे सौक्ष्म्य-स्थौल्य को पुद्गल का पर्याय माना गया है और जीव मे संकोच-विस्तार होने से सौक्ष्म्य-स्थौल्य स्पष्ट है, तथा 'आत्मप्रवाद' पूर्व मे जीव का नाम 'पुद्गल' भी दिया है, जैसा कि उक्त पूर्व का वर्णन करते हुए 'धवला' सिद्धान्त टीका के प्रथम खण्ड मे 'उक्तं च' रूप मे जो दो गाथाएं दी है, उनके निम्न अंश से तथा वहीं 'पोग्गल' शब्द के प्राकृत मे ही दिए हुए निम्न अर्थ से प्रकट होता है

जीवो कत्ताय वत्ताय पाणी भोत्ताय पोग्गलो ।
छव्विह संठाण बहु विह देहेहि पूरदिगलदित्ति पोग्गलो ॥

श्वेताम्बरो के भगवती सूत्र मे भी जीव को पुद्गल नाम दिया है, कोशो मे भी 'देहे चात्मनि पुद्गल' रूप से पुद्गल का आत्मा अर्थ भी दिया है। बौद्धो के यहा तो आमतौर पर पुद्गल नाम का प्रयोग पाया जाता है। तब जीवो को पौद्गलिक क्यो न माना जाय ?

५ जीव को 'परज्योति' तथा 'ज्योतिःस्वरूप' कहा गया है और ध्यान द्वारा उसका अनुभव भी 'प्रकाशमय' बतलाया गया है—अन्तःकरण के द्वारा वह प्रत्यक्ष भी होता है। सब बातें भी उसके पौद्गलिक होने को सूचित करती है—उद्योत और प्रकाश पुद्गल का ही गुण माना गया है। ऐसी हालत मे भी जीव को पौद्गलिक क्यो न माना जाय ?

६ अमूर्तिक का लक्षण पंचाध्यायी के 'मूर्तं स्यादिन्द्रिय ग्राह्य तद्ग्राह्यममूर्तिमत्' (२-७), इस वाक्य के अनुसार यदि यही माना जाय कि जो इन्द्रियगोचर न हो वह अमूर्तिक, तो जीव के पौद्गलिक होते हुए भी उसके अमूर्तिक होने मे कोई बाधा नही आती। असंख्य पुद्गलो के प्रचयरूप होकर भी कार्माणवर्गणा जैसे इन्द्रियगोचर नहीं है और इसलिए अमूर्तिक है, ऐसा कहा जा सकता है। इसमे क्या बाधा आती है ? यदि निराकार ही होना अमूर्तिक का लक्षण हो तो उसे खरविषाणवत् अवस्तु क्यो न समझा जाय ?

७ पुद्गल के यदि दो भेद किए जाए—एक चैतन्य-गुण-विशिष्ट और दूसरा चैतन्य-गुण-रहित, चैतन्य-गुण-विशिष्ट पुद्गलो को केवल 'वर्णवन्त'—वह भी 'चक्षुरगोचरवर्णवन्त' माना जाय और दूसरो को 'स्पर्श रस

ग धवर्णवन्त माना जाय और उन्ही म रूपादि की रसादि के साथ व्याप्ति स्वीकार की जाय तो इसमे क्या हानि है ? ऐसा होने पर प्रथम भेदरूप जीवो को तत्त्वार्थ-सार के कथनानुसार (८ ३२) ऊर्ध्व गौरव धर्माण और द्वितीय भेदरूप पुद्गलो को अधोगौरव धर्माण कहना भी तब निरापद हो सकता है। अन्यथा अपौद्गलिक म गौरव का होना नही बनता। गुरुता लघुता यह पुद्गल का ही परिणाम है।

८ यदि पुद्गल मात्र को स्पश रस-गन्ध-वर्ण इन चार गुणो वाला माना जाय—उसी को मूर्तिक कहा जाय और जीव मे वर्ण गुण भी न मानकर उसे अमूर्तिक स्वीकार किया जाय तो ऐसे अपौद्गलिक और अमूर्तिक जीवात्मा का पौद्गलिक तथा मूर्तिक कर्मो के साथ बद्ध होकर विकारी होना कैसे बन सकता है ? इस प्रकार के बन्ध का कोई भी दृष्टान्त उपलब्ध नही है। और इसलिए ऐसा कथन (अनमान) असिद्धसन होने से (आप्तपरीक्षा मे आनावरण नि शेषकार्योत्पत्ती प्रभु किल। सर्वेश्वर इति ख्याते मुमालमालसंमम इस आपत्ति के अनुसार) अग्राह्य ठहरता है—सुवर्ण और पाषाण के अनादि बन्ध का जो दृष्टान्त दिया जाता है वह विषम दृष्टान्त है और एक प्रकार से सुवर्ण-स्थानी जीव के पौद्गलिक होने को ही सूचित करता है— यदि ऐसा कहा जाय तो इस पर क्या आपत्ति खड़ी होती है ?

९ स्पर्श रस-गन्ध-वर्ण मे से कोई भी गुण जिसमे हो उसे मूर्तिक मानने पर (स्पर्श रसश्च गन्धश्च वर्णो भी मूर्तिसंज्ञका आदि पचाध्यायी २ ९) और जीव को वर्ण गुण विशिष्ट स्वीकार करने पर (जिसका कुछ अभ्यास शुक्लध्यान शब्द के प्रयोग से भी मिलता है) जीव भी मूर्तिक ठहरता है और तब मूर्तिक जीव का मूर्तिक कर्मो के साथ बद्ध होकर विकारी होने मे कोई बाधा नही आती। वह सजातीय विजातीय-पुद्गलो का ही बन्ध ठहरता है यदि ऐसा कहा जाय तो वह क्योकर आपत्ति के योग्य हो सकता है ?

१ रागादिक को पौद्गलिक बतलाया गया है (अ मे तु रागाद्या हेया पौद्गलिका अमी पचा २ ४५७) और रागादिक जीव के अशुद्ध परिणाम हैं—बिना जीव के उनका अस्तित्व नहीं। यदि जीव पौद्गलिक

है, वह भी संस्कारगत सत्य है। वास्तविक सत्य वह होगा कि जब हम मानेंगे नहीं कि जीव है या नहीं है किन्तु यह जान लेंगे कि वह है या नहीं है।

यदि आप कहें कि वास्तविक सत्य है इसे क्या हम जानते हैं? नहीं जानते हुए भी जब हम मानते हैं कि वह है तो फिर इसी को वास्तविक सत्य क्या न मान लें कि जीव है या नहीं है? जो मेरे लिए रहस्य है, उसे मैं मान रहा हूं। जान तो नहीं रहा हूं। यदि मैं उसे जान रहा होता तो वह मेरे लिए रहस्य ही नहीं होता। आज हम सबके सामने अतीत और भविष्य तथा बहुलांश में वर्तमान भी इतना अपूर्ण है कि उनके विषय में हम अपनी मान्यताएं ही स्थापित कर सकते हैं। तो मेरी मान्यता यह है कि हमारा वर्तमान व्यक्तित्व न सर्वथा पौद्गलिक ही है और न सर्वथा अपौद्गलिक ही है। यदि उसे सर्वथा पौद्गलिक मान लें तो उसमें चैतन्य नहीं हो सकता और यदि उसे सर्वथा अपौद्गलिक मानें तो उसमें संकोच विस्तार (देखें प्रसंग ४) प्रत्यात्मानुभव (देखें प्रसंग ५) ऊर्ध्व गौरव धर्मता (देखें प्रसंग ७) राग आदि (देखें प्रसंग १) नहीं हो सकते।

मैं जहां तक समझ सका हूं कोई भी शरीरधारी जीव अपौद्गलिक नहीं है। जिन आचार्यों ने उसमें संकोच विस्तार बन्धन आदि माने हैं। अपौद्गलिकता उसकी अन्तिम परिणति है, जो शरीर मुक्त से पहले कभी प्राप्त नहीं होगी। और वह हमारी परीक्षानुभूति का विषय नहीं है। जहां तक हमारी प्रत्यक्षानुभूति का प्रश्न है जीव का भूत और भविष्य दोनों अज्ञात हैं। वर्तमान जो ज्ञात है उसे प्रश्नकर्ता चैतन्य-गुण विशिष्ट पुद्गल कहना चाहते हैं और मैं पुद्गल-युक्त चैतन्य कहना चाहता हूं। पुद्गल और चैतन्य में दोनों दोनों में है। प्रश्नकर्ता को चैतन्य को गौण और पुद्गल को मुख्य स्थान देना इष्ट है। इस रेखा पर पहुंचते ही हमारी दूरी केवल गौणता और मुख्यता तक सीमित हो जाती है। जिस चैतन्य की प्रक्रिया से ही शरीर दूसरे पुद्गलों का ग्रहण स्वीकरण (आत्मसात् करण) और विसर्जन करता है और अपनी हर प्रवृत्ति में जिसकी अधीनता स्वीकार करता है, क्या उसे गौण स्थान दिया जा सकता है?

यदि मनुष्य क्रूर नहीं होता

मनुष्य सीमा में बंधा हुआ जन्म लेता है। असीम बनने का प्रयत्न उसका सिद्धान्त पक्ष है।

मनुष्य व्यक्ति के रूप में आता है, सामुदायिक बनता है जीवन की उपयोगिता के लिए।

जीवन में कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जो प्रसरणशील नहीं हैं। उनकी सीमा में मनुष्य की वैयक्तिकता सुरक्षित रहती है। कुछ तत्त्व प्रसरणशील होते हैं, वे उसे सामुदायिक बनाते हैं। समाज की भाषा में वैयक्तिकता अच्छी नहीं है, तो कोरी सामुदायिकता भी अच्छी नहीं है।

दोनों की अपनी-अपनी सीमाएं हैं। व्यक्ति को सामुदायिकता के उस बिन्दु पर नहीं पहुंचना चाहिए, जहां उसकी स्वतन्त्र सत्ता ही न रहे। उसे वैयक्तिकता की वह रेखा भी निर्मित नहीं करनी चाहिए, जो स्वार्थ के लिए औरों के अस्तित्व को अपने में विलीन कर दे। स्वस्थ विचार वही है, जो दोनों की मर्यादा का व्यवस्थापन करे।

वैयक्तिकता का नाश सत्तात्मक अधिनायकवाद से होता है। सत्ता को उत्तेजन देता है व्यक्ति का स्वार्थ—सामुदायिक सीमा का अतिक्रमण।

मनुष्य में अपनी सुख-सुविधा के लिए एक विशेष प्रकार का रागात्मक मनोभाव होता है। वही उसे दूसरों के प्रति क्रूर बनाता है। यदि स्व के प्रति अनुराग न हो तो पर के प्रति क्रूर होने का कोई कारण ही न रहे। शत्रुता इसीलिए उत्पन्न होती है कि मनुष्य अपने हितों को दूसरों के हितों के विनाश की सीमा तक ले जाता है। यदि वह अपनी सीमा में रहे, तो सब एक-दूसरे के मित्र ही मिलें। मैत्री में जो आनन्द, शान्ति और अभय है, वह शत्रुता में नहीं है। शत्रु-भाव की सृष्टि सहज है, किन्तु उसके परिणामों में बचना सहज नहीं है। विश्व के रंगमंच पर अनेक रक्त-क्रान्तियां हुई। कुछेक व्यक्ति क्रूर बने। उन्होंने दूसरों के स्वार्थों पर

आघात किया। क्रूरता ने क्रूरता को जन्म दिया। बहुत क्रूर बने और थोडो की क्रूरता को नही किन्तु स्वय को ही मिटा डाला। यह रक्तक्रान्ति का इतिहास है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के अपहरण या अधिनायकवाद का आधार व्यक्ति का स्वार्थ विस्तार और उससे उत्पन्न क्रूरता है। मनुष्य अप्रमाणिक बनता है खाद्य-वस्तुओ मे मिश्रण करता है, शोषण करता है, दूसरो के हितो की उपेक्षा करता है, स्वल्पतम लाभ देकर अति लाभ लेता है, दोष जन्म नही लेते यदि मनुष्य क्रूर नही होता।

बहुत लोग ऐसे है जो दूसरो को सहन नही कर सकते। वे अपनी मान्यता अपने चिंतन और अपनी कार्य पद्धति को सर्वोपरि महत्त्व देते है। अपने से भिन्न मत को सुनते ही उबल उठते है।

पारिवारिक कलह इसलिए होता है कि एक-दूसरे की स्वतन्त्र रुचि या भूल को सहन नही करते। जातीय-कलह की उत्पत्ति का भी यही कारण है। दूसरा उचित परामर्श देता है उसे सुनने की भी क्षमता नही होती। दूसरो के शिक्षा-वचनों को सुनने की वृत्ति नही-जैसी होती है। बहुधा उत्तर होता है—मैं तुमसे अधिक जानता हू। बहुत छोटी बात को लेकर लड लेते है गालिया देते है, तिरस्कार करते है सम्मानयोग्य व्यक्तियो का सम्मान नही किया जाता। सामुदायिक शक्ति के उपयोग से वचित रहते है, दल-बन्दी का प्रसार होता है एक-दूसरे को गिराने का यत्न करते है अपनी बात रखने की धुन मे तथ्यो की तोड मरोड की जाती है—ये दोष जन्म नही लेते यदि मनुष्य असहिष्णु नही होता।

क्रूरता और असहिष्णुता—ये दोनो असामाजिक तत्त्व है। समाज मे रहने पर भी जो क्रूर है असहिष्णु है, वह सामाजिक प्राणी नही है। मनुष्यो का समाज ईंटो-पत्थरो का ढेर नही है। वह अनुभूतिशील चेतनावान प्राणियो का समुदाय है। उन सबमे प्रिय-अप्रिय का मनोभाव सुख-दुःख का सवेदन अनुकूल प्रतिकूल स्थिति का प्रभाव क्रिया की प्रतिक्रिया आदि-आदि तत्त्व हैं। जो मनुष्य अपनी प्रिय सुखद और अनुकूल परिस्थिति बनाने के लिए दूसरो के लिए अप्रिय दु खद और प्रतिकूल परिस्थिति का निर्माण करता है, उसे क्या सामाजिक प्राणी कहा जा सकता है ?

मनुष्य-मनुष्य मे बुद्धि-बल और क्रियात्मक शक्ति का तारतम्य है।

एक बुद्धिमान् आदमी कम बुद्धि वाले लोगों को ठगता है, एक शक्तिशाली व्यक्ति दुर्बल व्यक्तियों को अभिभूत करता है, क्रियात्मक शक्ति का दुरुपयोग कर दूसरों को बेकार करता है—ये दोष जन्म नहीं लेते, यदि मनुष्य सामाजिक होता।

धर्म का स्वरूप समता है। जिसमें समभाव नहीं है, राग-द्वेष या प्रिय-अप्रिय में तटस्थ दृष्टिकोण नहीं है, वह धार्मिक नहीं है। सब आत्मा समान हैं—यह धार्मिक मान्यता की रीढ़ है। दैहिक भेद वास्तविक नहीं है। जातीय, क्षेत्रीय, प्रान्तीय, राष्ट्रीय और भाषागत भेद कृत्रिम है, यह जानकर भी मनुष्य अपनी जाति का गर्व और दूसरी जाति का तिरस्कार करता है। क्षेत्रवाद, प्रान्तवाद, राष्ट्रवाद और भाषावाद के आधार पर मनुष्य मनुष्य में विरोध का बीज बोता है, मनुष्य की वास्तविक एकता को काल्पनिक सिद्धान्तों के आधार पर छिन्न-भिन्न करता है, मनुष्य मनुष्य का शत्रु बनता है—ये दोष जन्म नहीं लेते, यदि मनुष्य धार्मिक होता।

क्रूरता और असहिष्णुता अमैत्री के मूल हैं। सामाजिक जीवन में मैत्री की अपेक्षा है। धार्मिकता मैत्री का उद्गम-स्थल है। मैत्री के लिए उसकी चर्चा ही पर्याप्त नहीं है। आवश्यकता यह है कि क्रूरता और असहिष्णुता पर विजय पाने का यत्न किया जाए। उससे जीवन में धार्मिकता विकसित

जीवन के नये मूल्य

आज हिन्दुस्तान संक्रमणकाल में गुजर रहा है उसके पुराने मूल्य बदल रहे हैं और नये मूल्य अभी स्थिर नहीं हुए हैं। इसीलिए वह अनेक नयी कठिनाइयों का सामना करने को विवश है। पुराने लोग धर्म को सर्वाधिक मूल्य देते थे। आज के बुद्धिवादी युवक की दृष्टि में उसका कोई मूल्य नहीं है। धर्म को सर्वाधिक मूल्य इसलिए दिया जाता था कि उससे मोक्ष मिलता है, मनुष्य सारे बन्धनों से मुक्त होता है। स्वतन्त्रता का मूल्य आज भी सर्वोपरि है। किन्तु उसका सम्बन्ध केवल राष्ट्र से है—भौगोलिक सीमा से है। मनुष्य की इन्द्रियों मन और चेतना की स्वतन्त्रता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। धर्म का सिद्धान्त पारलौकिक होते हुए भी इह लौकिक था। उससे वर्तमान जीवन भी पूर्णरूपेण अनुशासित होता था। आत्मानुशासन और संयम का अविरल प्रवाह जहां होता है वहां दायित्वों कर्तव्यों और मर्यादाओं के प्रति जागरूकता सहज ही हो जाती है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का सिद्धान्त सर्वथा इहलौकिक है। वर्तमान जीवन को अनुशासित करने के लिए इसे सर्वोपरि माध्यम माना गया है।

किन्तु भारतीय युवक में जितनी धर्म चेतना विलुप्त हुई है उतनी राष्ट्रीय चेतना जागृत नहीं हुई है। इसीलिए उसमें आत्मानुशासन और संयम का अपेक्षाकृत अभाव है और इसीलिए वह दायित्वों कर्तव्यों और मर्यादाओं के प्रति कम जागरूक है।

भारत का प्राचीन साहित्य विनय की गुण-गाथा से भरा पड़ा है। अविनीत विद्यार्थी विद्या का अपात्र समझा जाता था। अविनीत पुत्र पिता का उत्तराधिकार नहीं पा सकता था। अविनीत आदमी समाज में अनादृत होता था। इसीलिए विनय को बहुत मूल्य दिया जाता था। वह व्यक्ति और समाज दोनों को एक सूत्र में पिरोए हुए था। आज का अध्यापक विद्यार्थी को विनय के आधार पर विद्या नहीं देता। वह यह नहीं देखता कि

उसका विद्यार्थी पात्र है या अपात्र। वह उसे पढ़ाता है जो पहले वर्ष की परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता है। उत्तराधिकार का प्रश्न आज मिट चुका है। समाज में वह अधिक समादृत होता है, जो अधिक जोड़-तोड़ कर सकता है। विनय को कोई प्रोत्साहन नहीं मिल रहा है। उसे गुलाम-मनोवृत्ति का सूत्र माना जा रहा है। क्योंकि आज व्यक्ति और समाज दोनों एक सुदृढ़ शृंखला में आबद्ध नहीं हैं।

पुराने जमाने में यह माना जाता था कि वचन का मूल्य सर्वोपरि है। जो महान् आदमी होते हैं उनके वचन पत्थर की लकीर के समान अमिट होते हैं। जिस आदमी का वचन जल की लकीर के समान क्षणिक होता है वह महान् नहीं माना जाता।

वर्तमान में अपने वचन से मुकर जाना बड़ा कौशल है और बड़े आदमियों की खास पहचान है। पारस्परिक अविश्वास बढ़ाने में इसने बहुत बड़ा योग दिया है।

पहले लोग केवल भारतीय थे। उनका सोचने-समझने का मार्ग भारतीय था। वे भारतीय पद्धति से ही जीते और उसी पद्धति से मरते थे। अब वैज्ञानिक उपलब्धियों ने सारे विश्व को बहुत निकट ला दिया है। अब भारतीय केवल भारतीय नहीं है, वह जागतिक है। इसलिए वह बहुत व्यापक दृष्टि से देखता है और उन्मुक्त मस्तिष्क से सोचता-समझता है। जब वह बुद्ध, महावीर, व्यास और शंकर को पढ़ता था तब उसे नैतिक मर्यादाएं अनिवार्य लगती थीं। अब वह फ्रायड को पढ़ता है तो उसे लगता है कि ये मर्यादाएं कृत्रिम हैं, इच्छाओं के दमन से निष्पन्न हैं। इनके पीछे वास्तविकता का कोई हाथ नहीं है। इसीलिए आज एक-एक कर मर्यादाएं समाप्त हो रही हैं। नैतिक मानदण्ड गिर रहे हैं। आज विश्वविद्यालयों में ब्रह्मचर्य की चर्चा उपहास का विषय बन जाती है। दिल्ली विश्व-विद्यालय के वाइस चान्सलर श्री गांगुली ने बातचीत के प्रसंग में कहा—"मुनिजी! हम जब पढ़ते थे तब हमें ब्रह्मचर्य के विषय में बहुत बातें बताई जाती थीं। हमारा यह विश्वास हो गया था कि ब्रह्मचर्य बहुत बड़ी शक्ति है।"

शक्ति सचय बहुत आवश्यक है। आज स्थिति बहुत भिन्न है। विश्व विद्यालय मे मैं ब्रह्मचर्य के बारे मे कहू तो विद्यार्थी समझेगे यह किस युग की बात कर रहा है। आज ब्रह्मचर्य के प्रति बहुत आदर की भावना नही है। उसकी अच्छाई के प्रति आस्था भी नही है। इसीलिए आज विलास का निरकुश चक्र चल रहा है।

स्वस्थ समाज की अपेक्षाए

आत्मानुशासन तथा सयम विनम्रता पारस्परिक विश्वास और इन्द्रिय-सयम—ये स्वस्थ समाज की अनिवार्य अपेक्षाए हैं। प्राचीन समाज मे ये अपेक्षाए धर्म विनय वचन निर्वाह और मर्यादाओ के द्वारा पूर्ण होती थी। अब इनके प्रति निष्ठा कम हो रही है। इसीलिए आज का युवक इनसे दूर हो रहा है। इन नामो से भले ही कोई दूर हो जाए पर इन अपेक्षाओ से कोई सामाजिक प्राणी दूर नही हो सकता। आत्मानुशासन के अभाव मे व्यक्तिगत स्वतत्रता सुरक्षित नही रह सकती। जिस समाज मे अपने-आप पर नियत्रण करने की क्षमता होती है उस पर राज्य का नियत्रण बहुत कम होता है। व्यक्तिगत स्वतत्रता बहुत व्यापक होती है। जैसे-जैसे समाज मे आत्म नियत्रण की शक्ति कम होती है, वैसे-वैसे राज्य शक्ति व्यापक हो जाती है। लोग चाहते है राज्य बड़ा न हो और व्यक्ति इतना छोटा न हो और यह चाह अनुचित भी नही है। पर इसके लिए आत्म नियत्रण की शक्ति का पुनर्मूल्यन अपेक्षित है।

विनय के बिना शिष्टता समाप्त हो जाती है और बडो के प्रति छोटो का व्यवहार अशिष्ट हो जाता है। जहा अनुज अपने पूर्वजो का सम्मान नही करते वहा प्रेम की धारा सूख जाती है। जीवन रेगिस्तान बन जाता है। ऐसा न हो वह सरसब्ज रहे। उसके लिए निष्ठा का पुनर्मूल्यन आवश्यक है।

वचन की प्रामाणिकता के अभाव मे सामाजिक व्यवहार अस्त-व्यस्त हो जाता है। हर आदमी चाहता है हमारा व्यवहार ठीक ढग से चले। पर उसके लिए कथनी और करनी की समानता का पुनर्मूल्यन आवश्यक है।

इन्द्रिय-सयम के बिना समाज शक्तिहीन बन जाता है। सब लोग

चाहते है, हमारा समाज और राष्ट्र तेजस्वी रहे। पर उसके लिए इन्द्रिय-सयम का पुनर्मूल्यन अपेक्षित है।

समाज को शक्तिशाली रखना है, व्यवहार को सुव्यवस्थित रखना है, सरसता को बनाए रखना है और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की लौ को प्रज्वलित रखना है तो उन पुराने मूल्यो को नया रूप देना ही होगा।

आज के समाज के लिए नये मूल्य होंगे—स्वतन्त्रता, शिष्टता, पारस्परिक विश्वास और सयम-शक्ति।

मानव मन की ग्रन्थियाँ

कोई भी भौगोलिक राज्य उतना बडा नही है जितना मनोराज्य है। कोई भी यान उतना द्रुतगामी नही है जितना मनोयान है। कोई भी शस्त्र उतना सहारक नही है जितना मन शस्त्र है। कोई भी शास्त्र उतना तारक नही है जितना मन शास्त्र है। उसकी सारी ग्रन्थियो को खोल फैलाया जाए तो पाँचो महाद्वीपो मे नही समा पाती। इस छोटे-से शरीर मे इन असख्य ग्रन्थियो की सहति बहुत ही आश्चर्यजनक है। वे मुकुलित रहती है। सामग्री का योग मिलने पर उनके तार खुल जाते है। सामग्री का हमारे जीवन मे बहुत बडा स्थान है। आत्मा की प्रत्येक प्रवृत्ति उससे प्रभावित है। समुदाय भी एक सामग्री है। इसके योग मे मन की अनेक ग्रन्थियाँ सकुचित होती है तो अनेक विस्तार पाती है। मन विशाल होता है। समुदाय असत्य नही होता भिन्न नही लगता। मन छोटा होता है, समुदाय बाधक बन जाता है। परिवार मे दो आदमी बढते है तो पृथक्करण की प्रवृत्ति जाग जाती है। कुछ व्यक्तियो को पृथक्करण नही भाता भले फिर दस व्यक्ति बढ जाए। ये दोनो मन की सकुचित और विकुचित ग्रन्थियो के ही कार्य है।

जहा दस आदमी रहते है, वहा अवाछनीय भी कुछ हो जाता है। एक व्यक्ति उसे देख तत्काल उबल पडता है और दूसरा उसका परिमार्जन करता है। ये दोनो मन की उष्ण और शीत ग्रन्थियो के ही परिणाम है।

अणु-बमो के परीक्षण [illegible] रहे है। पर वे सहारक कम है। इस महाशून्य मे अनन्त अनन्त विषैले परमाणु भरे पडे है। वे कभी विस्फोट नही करते। सहारक है कनेडी और ख्रुश्चेव। उनके मन की ग्रन्थियाँ भी भय की शका से खुलती है। तभी बमो का विस्फोट होता है।

हमे तारने वाला दूसरा कौन है? हमारा मन जब अन्तर की ओर झाकता है तब हम तर जाते है। विग्रह और क्या है? बाहर झाकने के सिवाय और कोई विग्रह नही है। परिवार मे जो कलह होता है, वह इसी

लिए होती है कि पारिवारिक सदस्य अपनी अपेक्षा दूसरों को अधिक देखता है। अपने को भी देखता है पर उस आंख से नहीं देखता जिससे दूसरों को देखता है। अपना काम दीखता है, दूसरों का आराम। अपनी विशेषता दीखती है, दूसरों की कमी। उस आराम में से ईर्ष्या उपजती है और कमी से अहं। मन की गांठ घुल जाती है। कलह का बीज अंकुरित हो जाता है।

मन की अन्तर्-मुक्तता केवल धर्म ही नहीं है, व्यवहार का दर्शन भी है। ग्रन्थिभेद धर्म का पहला सोपान है। उसके बिना सम्यग्-दर्शन नहीं होता। राग और द्वेष इन दो शब्दों में मन की अनन्त ग्रन्थियाँ समाविष्ट होती हैं। रागात्मक प्रवृत्ति में व्यक्ति एक में अनुरक्त होता है। द्वेषात्मक प्रवृत्ति से वह दूसरे से दूर होता है। इस परिधि में तटस्थता टूट जाती है। उसके बिना पारिवारिक जीवन कठिन हो जाता है।

सामुदायिक जीवन बहुत बड़ी कला है। समुदाय में रहना बहुत बड़ी बात नहीं है। उसमें शान्ति, सामंजस्य और प्रसन्नतापूर्वक रहना सचमुच बहुत बड़ी बात है, और बहुत बड़ी कला है। इसकी साधना के लिए मन की कुछ ग्रन्थियों को खोलना पड़ता है और कुछेक को भारहीन करना पड़ता है। यह भारहीनता जिसे हमारे धर्मग्रन्थों ने साधना कहा है, सामुदायिकता का बहुत बड़ा मर्म है।

सुख और शान्ति

सुख की खोज सुलभ नहीं तो शायद उसका प्रतिपादन भी सुलभ नहीं। १५ अगस्त के दिन सुख और शान्ति पर चर्चा चली परन्तु समय हो चला उसे अधर मे ही छोड़ देना पड़ा। पर उसे छोड़ा कैसे जा सकता है ? मनुष्य की सारी साधना सुख और शान्ति के लिए होती है। यह मनुष्य का नैसर्गिक स्वभाव है। प्रश्न यह होता है कि जब मनुष्य सुख और शान्ति की साधना करता है तो उसे अशान्ति क्यो मिलती है ? बिना चाहे ही अशान्ति क्यो आ जाती है ? अब इस पर हमे विचार करना है।

अशान्ति दो प्रकार की होती है—एक कल्पनाप्रसूत अशान्ति और दूसरी मान्यताप्रसूत अशान्ति। इसी तरह सुख के कई प्रकार हैं—आरोग्य सुख, दीर्घायु सुख, सम्पन्नता सुख आदि-आदि। प्रत्येक मनुष्य स्वस्थ रहना चाहता है, प्रत्येक मनुष्य दीर्घायु होना चाहता है और प्रत्येक मनुष्य सम्पन्न होना चाहता है। मनुष्य ही क्यो प्रत्येक राष्ट्र के अधिनायक भी यही चाहते है कि हमारा राष्ट्र सब प्रकार से समृद्धिशाली सुखी बने। आजकल जिस राष्ट्र की जनता सुखी नही होती उसको अच्छा नही समझा जाता। हमारे देश के प्रधानमंत्री ने अभी कुछ ही दिन हुए अपने एक भाषण मे कहा था कि स्वतन्त्रता के प्राप्त होने के पश्चात् हमारे देशवासियो की आयु मे वृद्धि हुई है। इसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र के कर्णधार यही चाहते है कि हमारे देश के वासी अधिक-से-अधिक सुखमय जीवन व्यतीत करें।

मनुष्य मे जब माया मोह और लोभ आदि का आवेग आ जाता है तब उसे अशान्ति होती है। शान्ति नहीं तो सुख भी नहीं। शान्ति के बिना मनुष्य सुख की अनुभूति भी नहीं कर सकता। धन सुख का साधन माना जाता है परन्तु यदि एक धनी मनुष्य रुग्ण है तो उसे शान्ति की अनुभूति नहीं होती। इसी प्रकार यदि एक मनुष्य अच्छा-अच्छा भोजन करने में सुख का अनुभव करता है और वही यदि उसे बुखार से पीड़ित होने पर

दिया जाए तो उसे वह अच्छा नहीं लगेगा। एक मनुष्य की संगीत में रुचि है परन्तु यदि उसके मन में अशान्ति है तो उसे सुख की अनुभूति नहीं होगी। शान्ति और सुख का साहचर्य है, उनमें कार्य-कारण का भाव नहीं। हमारा साध्य सुख है, शान्ति नहीं। शान्ति के अभाव में सुख नहीं मिलता, इसीलिए शान्ति को महत्त्व अधिक दिया जाता है। शान्ति का अर्थ है शमन। रोग को शान्त करने के लिए चिकित्सा की जाती है। लोग कहते हैं रोग शान्त हो गया। परन्तु शान्त क्या हुआ ? जो उभार आया था वह मिट गया। फोड़ा हुआ, उपचार किया, मिट गया। शमन के लिए यही बात है।

सुख के दो रूप हैं। वह भौतिक भी है और आध्यात्मिक भी। मकान, वस्त्र, रोटी—जिनसे सुख की अनुभूति होती है वे भौतिक हैं। आज इसी को प्रधान सुख मान लिया गया है। परन्तु हमारे महर्षियों ने, हमारे आचार्यों ने इसे व्याधि माना है। हमें भूख लगी है, समझ लीजिए व्याधि उत्पन्न हो गई है। भोजन किया, व्याधि मिट गई। बुखार आया, दवा ली और बुखार दूर हुआ। इसमें सुख की कैसी अनुभूति हुई ? हां, उपकरणों द्वारा सुख की अनुभूति अवश्य होती है।

आज मनुष्य का मानसिक तनाव इतना बढ़ गया है कि शायद इतना पहले कभी नहीं था। अमेरिका आज की दुनिया का सबसे धनी देश है। वहां पर खाने, पीने, पहनने की कोई कमी नहीं है। घी-दूध की नदियाँ बहती हैं। गेहूं आदि अनाज जानवरों को खिलाया जाता है परन्तु इसके उपरान्त भी वहां मानसिक तनाव के रोगियों की संख्या दुनिया में सबसे अधिक है। यदि बाह्य उपकरण ही सुख के साधन होते तो शायद ऐसा नहीं होता। मनुष्य के पास आज समय का बहुत अभाव हो गया है। वैसे तो भाव सभी चीज़ों का बढ़ गया है। कलकत्ता में एक वर्ग फुट का किराया एक रुपया है। परन्तु समय का भाव सबसे अधिक बढ़ गया है। गर्मी-प्रधान देश होने के कारण भारत के लोग अधिक आलसी भी होते हैं, फिर भी समय की कमी उन्हें सदैव सताती है। यह भी एक मानसिक असंतुलन है। अमेरिका में मानसिक तनाव बाह्य उपकरण की प्रचुरता के कारण ही अधिक फैला है। रूस में ऐसी बात नहीं है। वहां के लोग अधिक श्रमपरत हैं। फ्रांस में भी मानसिक तनाव के रोगियों की संख्या

नी बढी है कि वहा के लोग यह अनुभव करने लगे है कि यदि ाध्यात्मिकता का जीवन मे प्रवेश नही हुआ तो बिना किसी एटम बम या ाइड्रोजन बम के ही हम सब समाप्त हो जाएंगे।

आज का पढा लिखा आदमी अधिक असतुलित हो गया है। जिस कार शारीरिक सतुलन बिगडने पर मनुष्य के शरीर मे गडबड रहती है ठीक उसी प्रकार मानसिक सतुलन बिगडने पर लोग घबराए-से रहते है। ैसे तो प्रत्येक मनुष्य मे कुछ न कुछ पागलपन अवश्य होता ही है परन्तु बहुत पढे लिखे लोग और अधिक पागल देखे जाते है। बड-बडे दार्शनिको को कभी-कभी यह भी याद नही आता है कि उन्होने भोजन किया है या नही इसके बारे मे वे अपने नौकरो से पूछते है। किन्तु यह पागलपन विकास के लिए बहुत ही आवश्यक होता है परन्तु उसकी भी एक सीमा है। यदि यहा के पहाडो की सीमा न होती तो क्या उदयपर यहा होता ? जयसमन्द की सीमा नही होती तो क्या गुजरात होता ? वे दोनो ससीम है। इसीलिए उदयपुर भी है गुजरात भी।

आज अथ को इतनी अधिक मान्यता दे दी गई है कि उसके आगे कुछ सोचने को शेष ही नही रह जाता है। ईश्वर, आकाश एव मनुष्य की तृष्णा ये तीन चीज असीम मानी गई है। आज के लोगो ने ईश्वर को उखाड फेका आकाश को ससीम माना परन्तु अपनी तृष्णा को असीम ही रहने दिया। तृष्णा का विस्तार अधिक हुआ है, कम नही। आज के मनुष्य को धन से जो विचार जो धारणाए प्राप्त होती है, उनके साथ आत्मानुशासन जैसी कोई चीज जुडी ही नही है। धम की तो लोग मखौल उडाते है। आदिवासी जातियो म आपको नतिकता अधिक मिल सकती है। लोक-कला मण्डल मे आचार्यश्री के पधारने पर श्री सामरजी ने बताया कि भारत की प्राचीन सस्कृति का दर्शन आदिवासियो मे ही हो सकता है। आधुनिक सभ्यता के लोग उन्हे सभ्य बनाने आते हैं परन्तु मेरे विचार से वे भारतीय सस्कृति का अन्त करना चाहते है। इसी प्रकार दक्षिणी अफ्रीका के एक विद्वान् ने लिखा है कि हम यहा के आदिवासियों को सभ्य नही बना रहे हैं बल्कि उन्हे बर्बाद कर रहे हैं। आज की नयी सभ्यता के लोग प्राचीन चीज़ो को अधविश्वास कहकर मखौल उड़ाते हैं परन्तु सारी चीजें अध

विश्वास ही नहीं है। ग्रहों के साथ भारतीय ज्योतिष में हीरे-मोती का सम्बन्ध बताया गया है और इसकी पुष्टि वैज्ञानिक भी आज कर रहे हैं।

आज का बुद्धिवाद भी अशान्ति का एक कारण बन रहा है। यदि आप जीवन में शान्ति चाहते हैं, सुख की कल्पना साकार करना चाहते हैं तो अपने मन पर नियन्त्रण करिए। सुख तीन प्रकार का होता है—शारीरिक सुख, इन्द्रिय सुख और मानसिक सुख। शारीरिक सुख आपको प्रिय है। इसे प्राप्त करने के लिए आप काफी सचेष्ट भी रहते हैं। इन्द्रियों के सुख के लिए भी आप बहुत ही प्रयत्नशील रहते हैं परन्तु मानसिक सुख की ओर आपका ध्यान नहीं जाता। आप मान लेते हैं कि यदि शारीरिक सुख तथा इन्द्रिय सुख की प्राप्ति हुई तो मानसिक सुख स्वतः प्राप्त हो जाएगा। परन्तु आपसे भूल से ही भूल हुई है। आप यदि मन को मालिक मानकर चलेंगे तो सुख की अनुभूति कदापि नहीं हो सकती। हाँ, सेवक मानने से सुख अवश्य प्राप्त होगा। मन चाहता है कि सुख मिले परन्तु यदि उस पर अधिकार नहीं किया गया तो सुख नहीं मिल सकता। यदि आप मन को अपने नियन्त्रण में रखेंगे तो सुख का समुद्र लहराएगा, शान्ति मिलेगी। मन को सेवक मानने पर इन्द्रियाँ स्वयं सेवक बन जाएँगी। आपके सामने दु:ख नाम की कोई चीज ही नहीं रह जाएगी। परन्तु यह स्थिति तभी होगी जब मन को मालिक मानकर नहीं, सेवक मानकर चलेंगे। चन्द्रमा की सैर करने से भी अधिक सुख की अनुभूति इसमें होगी। भगवान् महावीर ने कहा है—बारह मास का दीक्षित साधु सारे पौद्‌गलिक सुखों को लाँघ जाता है। उसे उस सुख की अनुभूति होती है जो चक्रवर्ती सम्राट को भी नहीं होती। आप अपने जीवन को प्रयोगशाला बनाकर यह निर्णय कीजिए कि जिन मान्यताओं को आप स्वीकार किए हुए हैं, वे काल्पनिक हैं या यथार्थ? एक बार मन को सेवक मानकर इसे अवश्य परीक्षा करनी चाहिए। मैं आपको यह परामर्श नहीं दे सकता कि आप शरीर-सुख और इन्द्रिय-सुख की ओर सर्वथा ध्यान न दें। किन्तु इतना-सा परामर्श अवश्य दूँगा कि आप मन को सेवक मानकर चलें, स्वामी मानकर नहीं।

विस्मृति का वरदान

मैं कोई नयी बात नहीं कह रहा हूं। वही कह रहा हूं जिसका जीवन में अनेक बार अनुभव होता है। जिन लोगों ने स्मृति का अभिशाप भोगा है वे बड़ी तीव्रता से अनुभव करते हैं कि विस्मृति वरदान है किन्तु बहुत दुलभ। स्मृति वरदान से भी अधिक दुलभ।

१ स्मृति उसकी होती है जो अतीत में अनुभूत हो। जो हमने देखा सुना संवेदन किया वह हमारी ज्ञानधारा में समाकर सस्कार का रूप ले लेता है। निमित्त बनकर वह उद्बुद्ध होता है और अतीत वर्तमान में प्रतिबिम्बित हो जाता है।

२ यह हमारे जीवन की ज्वलन्त समस्या है कि जिसकी स्मृति होनी चाहिए उसकी विस्मृति हो जाती है और जिसकी विस्मृति होनी चाहिए उसकी स्मृति होती रहती है।

३ उपकार की बात लोग भूल जाते हैं पर अपकार की बात नहीं भूलते। *किसी मित्र के सामने आने पर तरी बातें याद नहीं भी आती पर* शत्रु के सामने आते ही अतीत साकार हो उठता है।

भलाई के प्रति भलाई का हेतु भी स्मृति है। और बुराई के प्रति बुराई का हेतु भी वही है। इसीलिए स्मृति वरदान भी है और अभिशाप भी। करणीय कार्य को भुलाकर हम बहुत बार ऐसी भूल कर बैठते हैं कि उसका परिणाम अच्छा नहीं होता। अकरणीय को बार-बार याद करके भी हम अपने प्रति न्याय नहीं करते। इसीलिए विस्मृति अभिशाप भी है और वरदान भी।

स्मृति के अभिशाप से वही मुक्त हो सकता है जिसे विस्मृति का वरदान प्राप्त हो। दुश्मनों की स्मृति अभिशाप से भी लम्बी बनती है। प्रियजन की स्मृति ही असंख्य आत्महत्याओं का हेतु बनती है। साम्प्रदायिक एकता में सबसे बड़ी बाधा स्मृति ही तो है। स्मृति का सूत्र

पूर्ण और अपूर्ण

आत्मा पूर्ण है पर व्यक्ति पूर्ण नहीं है। वह अपूर्ण है, इसीलिए उसमें लिप्सा है। लिप्सा अपूर्णता का चिह्न है। जिसमें जितनी अपूर्णता होगी उसमें उतनी ही लिप्सा होगी। मनुष्य की अपूर्णता अतृप्ति के द्वारा अभिव्यक्त होती है। उसका शरीर अतृप्त है और मन भी। शारीरिक तृप्ति के लिए मनुष्य पदार्थ पाने की इच्छा करता है। और मन की तृप्ति के लिए वह उसे भी पाना चाहता है जो पदार्थ नहीं है। यश कोई पदार्थ नहीं है। पद भी पदार्थ नहीं है। किन्तु मनुष्य में यशोलिप्सा भी है और पद लिप्सा भी है। यश से मनुष्य को कुछ भी नहीं मिलता पर तृप्ति ऐसी मिलती है जैसी सम्भवत और किसी से नहीं मिलती। अधिकारशून्य पद भी भी यही देता है। अधिकारयुक्त पद से कुछ मिलता भी है पर वह नहीं मिलता जिससे अपूर्णता मिटे।

अपने-आप में सब पूर्ण है। कोई उसे पा गया है, कोई प्राप्ति के पथ पर है। किसी की उसमें रुचि नहीं है तो किसी में उसकी समझ नहीं है। पर बहुत सच है कि पदार्थों की सन्निधि से कोई भी परिपूर्ण नहीं है। एक की पूर्णता दूसरे की पूर्णता के सामने अपूर्णता में परिणत हो जाती है।

पदार्थ अपने-आप में पूर्ण है। वे न हमें पूर्ण बनाते हैं और न अपूर्ण। हम उन पर अपने ममत्व का धागा डालकर अपूर्ण बन जाते हैं। पूर्णता का मार्ग यही है कि ममत्व का धागा टूट जाए।

आकाश की उड़ान भारत को चुनौती

पाताल, पृथ्वी और अन्तरिक्ष—लोक इन तीनों भागों में विभक्त है। इन्हीं को जैन-आगमों में अधोलोक, तिर्यग्-लोक और ऊर्ध्व-लोक कहा है। मनुष्य तिर्यग्-लोक में रहता है। शेष दो लोक उसके लिए सदा जिज्ञासा के विषय रहे हैं। भूगर्भ में वह गया है भूमि को खोदकर और अन्तरिक्ष में वह गया है उड़ान भरकर। विमानों का इतिहास बहुत पुराना है। उनमें बैठ अनेक मनुष्यों ने उड़ानें भरी हैं और अनन्त आकाश को देखने का यत्न किया है। किन्तु विमानों के बिना उड़ने का इतिहास भी बहुत पुराना है। जैन-साहित्य के अनेक पृष्ठ इन रहस्यमय विवरण से भरे पड़े हैं।

चरित्र की विशुद्धि से नभो-गमन की शक्ति विकसित होती है। वह विद्या की आराधना से भी विकसित होती है। औषध-कल्प से भी मनुष्य आकाश में उड़ सकता है। जंघा-चारण सूर्य की रश्मियों का आलम्बन ले आकाश में उड़ सकता है। वह एक उड़ान में लाखों योजनों की दूरी पर चला जाता है। ऊंचाई में वह एक ही उड़ान में हजारों योजन ऊंचा चला जाता है। व्योमचारी मुनि पद्मासन की मुद्रा में बैठे-बैठे ही आकाश में उड़ जाते हैं। जल-चारण मुनि जल के जीवों को कष्ट दिए बिना समुद्र आदि जलाशयों पर चलते हैं। दूसरी प्रकार के जंघा-चारण धरती से चार अंगुल ऊपर पैरों को उठाकर चलते हैं। पुष्प-चारण मुनि वनस्पति को कष्ट दिए बिना फूलों के सहारे चलते हैं। श्रेणी-चारण पर्वत के शिखरों पर चलते हैं। अग्निशिखा-चारण अग्नि की शिखा पर चलते हैं। वे न अग्नि के जीवों को कष्ट पहुंचाते हैं और न स्वयं जलते हैं। धूम-चारण धूम की पंक्ति को पकड़कर उड़ जाते हैं। मर्कटतन्तु-चारण मकड़ी के जाल पर चलते हैं। उसे कोई कष्ट पहुंचाए बिना वे ऐसा करते हैं। ज्योतिरश्मि-चारण सूरज, चांद या अन्य किसी ग्रह-नक्षत्र की रश्मियों को पकड़ ऊपर

चले जाते है । वायु-चारण हवा को पकड उड जाते है। जलद-चारण मेघ के अवश्याय-चारण ओस के सहारे उड जाते हैं । इस प्रकार नभोगति की विविध रूप रेखाए है। यूरी गागरिन की आकाश की उडान से आज समूचा विश्व आश्चर्यचकित है। भारत के अपने आन्तरिक बल से एक दिन समूचा ससार आश्चर्यचकित था। आज यन्त्रवाद फिर अध्यात्म को चुनौती दे रहा है। क्या भारत मे उसे झेलने की क्षमता है ?

विचार-प्रवाह

इस विश्व में जो है वह प्रवहमान भी है। केवल स्थायी कुछ नहीं है। प्रत्येक स्थूल पदार्थ से रश्मियां निकलती हैं और वे समूचे आकाश-मण्डल में व्याप्त जाती हैं। हमारी वाणी जल-तरंगवत् भाषात्मक जगत् को प्रकम्पित कर देती है। हमारा मन चिन्तन के पश्चात् अपनी पौद्‌गलिक आकृतियों का विसर्जन करता है, आकाश उनसे भर जाता है। इस प्रकार हमारा शरीर, वाणी और मन सब प्रवहमान हैं। इसीलिए समरूपता, समप्रयोग और समचिन्तन एक तत्त्वज्ञ के लिए आश्चर्यजनक नहीं होता। यहां मैं समचिन्तन की छोटी चर्चा करना चाहता हूं।

आचार्य पूज्यपाद ने लिखा—'महावीर ने तेरह भेदों (पांच महाव्रतों, पांच समितियों और तीन गुप्तियों) का अपने ढंग से निरूपण किया।' आचार्य भिक्षु ने सम्भवतः इस विचार को पढ़ा ही नहीं, फिर भी उन्होंने तेरापंथ की व्याख्या में भगवान् के इन्हीं तेरह भेदों को आधार माना।

आचार्य भिक्षु ने कहा था—'धर्म और राजनीति भिन्न हैं।' इसी आधार पर आचार्यश्री तुलसी ने बहुत वर्षों पहले लिखा था—'राजनीति से धर्म पृथक् है।' राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन ने कहा था—'हम धर्म और राजनीति को मिलाना नहीं चाहते। हमारा यही प्रयत्न है कि इन्हें दूर रखा जाए।'

आचार्य भिक्षु ने लिखा था—'भौतिक उपलब्धि अहिंसा का परिणाम नहीं है। उसका परिणाम है आत्म-शुद्धि और मानसिक-शान्ति।' महात्मा भगवानदीन ने इस विचार को इन शब्दों में व्यक्त किया है—'यह कहकर मैं हिंसा को बढ़ावा नहीं दे रहा, मैं तो सिर्फ अहिंसा की हद बता रहा हूं। सत्य, अहिंसा, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य—इन सभी धर्मों का मैं पुजारी हूं। इन सब पर अमल भी करता हूं—पर मैं यह मानने को तैयार नहीं कि इन धर्मों की मदद से किसी को स्वराज्य मिल सकता है या कोई

आदमी मालदार हो सकता है किसी तरह का शारीरिक सुख प्राप्त कर सकता है। इन धर्मों के पालने से तो केवल मानसिक सुख मिल सकता है और जो आत्मा में विश्वास रखते हैं उनकी आत्मा को सुख प्राप्त हो सकता है। इसलिए यह समझना कि स्वराज्य हमारे अहिंसा धर्म का नतीजा है, बहुत बड़ी भूल है।

मैं फिर दोबारा कहता हूं कि मैं अहिंसा का निरादर नहीं कर रहा। मैं अहिंसा का पुजारी हूं। मैं तो केवल यह कहना चाहता हूं कि अहिंसा से जिस काम की आशा की जाती है वह गलत है।

भारतीय-संस्कृति के विकास में संयम और संकल्प का बहुत बड़ा योग रहा है। उनके साथ निषेध का गहरा सम्बन्ध है। अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन हुआ तब कई चिन्तक व्यक्ति निषेध ही निषेध केवल नहीं देख पाते थे। कुछ लोग प्रतिज्ञा मात्र के प्रति सहमत नहीं थे। किन्तु जब राष्ट्रीय एकता सम्मेलन ने सात निषेध स्वीकृत किए तब लगा कि नियम-संकल्प का स्वर राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिध्वनित हो रहा है।

राष्ट्रीय एकता सम्मेलन ने सर्व सेवा संघ के सुझाव पर एक प्रतिज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने का अनुरोध किया। उसके अनुसार देश के प्रत्येक वयस्क से निम्न प्रतिज्ञा पर हस्ताक्षर करने को कहा जाएगा— भारत का नागरिक होने के नाते मैं सुसंस्कृत समाज के सार्वभौम सिद्धान्तों अर्थात् नागरिकों वर्गों संस्थाओं और समाजों के बीच उत्पन्न विवादों को शान्ति पूर्ण तरीकों से निपटाने के सिद्धान्तों में विश्वास रखता हूं तथा एकता और देश की अखण्डता के सम्मुख आए खतरे को ध्यान में रखते हुए प्रतिज्ञा करता हूं कि मैं विवादों को चाहे वे मेरे पड़ोस में हों अथवा देश के किसी और हिस्से में सुलझाने के लिए हिंसा का सहारा नहीं लूंगा।

कुछ वर्ष पूर्व आचार्यश्री तुलसी के धवल-समारोह के प्रथम चरण का आयोजन था। उस अवसर पर तीन प्रतिज्ञाएं दिलवाई गई थीं। उनमें एक थी—"मैं साम्प्रदायिक आधारों तथा जातीय आधार पर किसी प्रकार की घृणा नहीं फैलाऊंगा। देश-काल की विच्छिन्नता में भी विचार किस प्रकार अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित होते हैं यह सचमुच आश्चर्य का विषय है।

चिर सत्यों की अनुस्यूति

सत्य के दो रूप होते हैं—वस्तु-सत्य और व्यवहार-सत्य। व्यवहार-सत्य बहुरूपी होता है। वस्तु-सत्य का रूप चिर पुराण होता है। वह देश-काल में व्यवच्छिन्न नहीं होता। जो देश-काल से व्यवच्छिन्न नहीं होता वही वस्तु-सत्य होता है। उसी के कुछ उदाहरण हैं—

१ यौगिक अनुभूति है कि लघिमा सिद्धि को प्राप्त करने वाला योगी जैसे भूमि पर खड़ा रहता है वैसे ही भाला की नोक पर खड़ा रह सकता है। भूमि और भाले की नोक में तभी अन्तर होता है जब भार होता है। योगी प्राण-विजय द्वारा भार-मुक्त हो जाता है। अतः उसके लिए भूमि और भाले की नोक में कोई अन्तर नहीं होता।

कोशा वेश्या सरसों की राशि पर नृत्य करती और वह राशि अस्त-व्यस्त नहीं होती थी। भार-मुक्ति का यह विचित्र प्रयोग था। भूमि के वातावरण में भार-मुक्ति साधना-गम्य होती है। अन्तरिक्ष में वह सहज ही प्राप्त हो जाती है। रूसी वैज्ञानिक जियोलकोव्स्की के शब्दों में—"अन्तरिक्ष में कोई भी वस्तु दबाव नहीं डालती। यदि मैं पृथ्वी पर सूई की नोक पर खड़ा हो जाऊं तो मेरा पैर सूई के अन्दर घुस जाएगा। लेकिन यदि ऐसा अन्तरिक्ष में हो तो मेरा पैर सूई पर इस तरह खड़ा रहेगा, मानो मैं पृथ्वी पर खड़ा हूं।"

२ भगवान महावीर ने कहा था—'पृथ्वी के असंख्य योजन की ऊंचाई पर देवों का एक मुहूर्त बीतता है, उतने में यहां हजारों वर्ष बीत जाते हैं।' आइन्स्टीन ने इसी सत्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है—'सूरज को भेजी जाने वाली एक घड़ी पृथ्वी की तुलना में धीमी गति से चलेगी।' अंतरिक्ष यात्रा के समय भी यही सत्य उद्भावित हुआ था। डॉ० वोरिसल्कोसोल्स्की ने सोवियत आर्थिक पत्रिका में लिखा था—'अंतरिक्ष में पृथ्वी की अपेक्षा समय बहुत धीमी गति से बढ़ता है।'

परमाणवाद के अनुसार एक आकाश प्रदेश में एक परमाणु समा सकता है, वहां अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध भी समा सकता है। रसायन शास्त्र के अनुसार एक तोले बुभुक्षित पारद में सौ तोला स्वर्ण समा सकता है। अवकाशवाद की इस रहस्यपूर्ण पद्धति पर एडिंग्टन ने इन शब्दों में प्रकाश डाला था— मनुष्य-शरीर के सारे खोखले स्थानों को निकाल दिया जाए और शेष प्रोटोनों और इलेक्ट्रोनों को एक जगह इकट्ठा कर लिया जाए तो छह फुट और ढाई मन का मनुष्य एक छोटे-से बिन्दु का रूप ले लेगा— इतना छोटा बिन्दु कि आप उसे अणुवीक्षण यन्त्र से ही देख सकेंगे।

विश्व के सभी प्रकार के प्राणियों को इस प्रकार बिन्दुओं में बदल दिया जाए तो वे सब-के-सब हमारे पानी पीने के गिलास में समा सकेंगे। एक हाथी पूर्व की ओर मुंह करके खड़ा है और एक हाथी का बच्चा पश्चिम की ओर मुंह करके हाथी की सूंड और दूसरे पैर के बीच में खड़ा है। इस हाथी और उसके बच्चे के शरीर के परमाणुओं को भींचकर एक-दूसरे में मिला दें तो केवल इतना द्रव्य रहेगा जो एक सूई के छेद से निकाला जा सके। सभी पदार्थों के अवयवों का यही हाल है। यदि समूचे संसार के पदार्थों को भींचकर हम इन अणु-परमाणुओं को एक-दूसरे में मिला दें तो हमें एक छोटी नारंगी के बराबर की चीज मिलेगी।

४ कुछ लोगों ने कहा—भिक्षु जी व्याख्यान देते हैं तब रात एक प्रहर से बहुत अधिक चली जाती है। आचार्य भिक्षु ने कहा—सुख की रात छोटी होती है, दुःख की रात बहुत बड़ी लगती है। महाकवि कालिदास ने अणोरणीयान् महतो महीयान् इस समस्यापूर्ति में यही कहा था—

'मैं परम पवित्र यज्ञोपवीत को हाथ में ले सौगन्ध खाकर कहता हूं कि प्रिया के योग में दिन अणु से भी अणु लगता है और उसके वियोग में महान् से भी महान्।

महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने भी अपनी पत्नी को सापेक्षवाद इसी उदाहरण द्वारा समझाया था। उन्होंने कहा— प्रिया के पास बैठे व्यक्ति को एक घंटा दो मिनट के बराबर लगता है और भट्ठी के पास बैठे व्यक्ति को दो मिनट घंटा के बराबर लगते हैं।

स्वतन्त्रता और आत्मानुशासन

कितना मधुर है यह स्वतन्त्रता शब्द ! एक तोता पेड़ की टहनी पर बैठकर जिस खुशी से झूमता है, वह उसी खुशी से सोने के पिंजड़े में नहीं झूमता। पिंजड़ा आखिर पिंजड़ा ही है भले फिर वह लोहे का हो या सोने का। स्वतन्त्रता की मादकता का एक कण परतन्त्रता के सागर से अधिक मूल्यवान् और प्राणदायी होता है। परन्तु आश्चर्य है कि स्वतन्त्रता के अठारह वर्षों के बाद भी हिन्दुस्तान पूरी मादकता से नहीं झूम रहा है। ऐसा लगता है कि वह राजनीति की परतन्त्रता से मुक्त होकर भी मानसिक परतन्त्रता से मुक्त नहीं है। वाणी की स्वतन्त्रता उसे प्राप्त है, पर वाणी का संयम उसे प्राप्त नहीं है। लेखन की स्वतन्त्रता उसकी निर्बाध है पर लेखनी का संयम उसे ज्ञात नहीं है। उसके विचारों की अभिव्यक्ति पर कोई रोक नहीं लगा सकता पर उसे अपने-आप पर रोक लगाना भी पसन्द नहीं है। इस स्वतन्त्रता का अर्थ है मानसिक परतन्त्रता का उदय।

जनतंत्र का मूल आधार है स्वतन्त्रता और उसका मूल आधार है व्यक्ति का आत्मानुशासन। जब कोई व्यक्ति अपने-आप पर अपना नियंत्रण रख सकता है, तभी वह स्वतन्त्रता की लौ प्रज्वलित कर सकता है। अधिनायकता के युग में भय और आतंक का राज्य होता है, इसलिए व्यक्ति के आत्मानुशासन का विशेष मूल्य नहीं होता। जनतंत्र के युग में अभय का राज्य होता है, इसलिए उसमें आत्मानुशासन का मूल्य बहुत बढ़ जाता है।

हिन्दुस्तान दुनिया का सबसे बड़ा जनतंत्र है। उसके नागरिकों का आत्मानुशासन कैसा है, इस प्रश्न पर चाहे-अनचाहे दृष्टि जा टिकती है। इसका उत्तर जो मिलता है, वह सन्तोष नहीं देता। शासनतंत्र के प्रमुख लोगों में सर्वाधिक आत्मानुशासन होना चाहिए पर वह नहीं है। वे अपने पद का लाभ भी उठाते हैं। पक्षपात की भी उनमें कमी नहीं है। अपने

३ परमाणुवाद के अनुसार एक आकाश प्रदेश मे एक परमाणु समा सकता है, वहा अनन्त परमाणुओ का स्कन्ध भी समा सकता है। रसायन शास्त्र के अनुसार एक तोले बुभुक्षित पारद मे सौ तोला स्वर्ण समा सकता है। अवकाशवाद की इस रहस्यपूर्ण पद्धति पर एडिंगटन ने इन शब्दो मे प्रकाश डाला था— मनुष्य-शरीर के सारे खोखले स्थानो को निकाल दिया जाए और शेष प्रोटोनो और इलेक्ट्रोनो को एक जगह इकट्ठा कर लिया जाए तो छ फुट और ढाई मन का मनुष्य एक छोटे-से बिन्दु का रूप ले लेगा— इतना छोटा बिन्दु कि आप उसे अणुवीक्षण यन्त्र से ही देख सकेंगे।

विश्व के सभी प्रकार के प्राणियो को इस प्रकार बिन्दुओ मे बदल दिया जाए तो वे सब-के-सब हमारे पानी पीने के गिलास मे समा सकते। एक हाथी पूर्व की ओर मुह करके खडा है और एक हाथी का बच्चा पश्चिम की ओर मुह करके हाथी की सूड और दूसरे पैर के बीच मे खडा है। इस हाथी और उसके बच्चे के शरीर के परमाणुओ को भीजकर एक-दूसरे मे मिला दे तो केवल इतना द्रव्य रहेगा जो एक सूई के छेद से निकाला जा सके। सभी पदार्थों के अवयवो का यही हाल है। यदि समूचे ससार के पदार्थों को भीजकर हम इन अणु-परमाणुओ को एक-दूसरे मे मिला दें तो हमे एक छोटी नारगी के बराबर की चीज मिलेगी।

४ कुछ लोगो ने कहा—भिक्षु की व्याख्यान देते है तब रात एक प्रहर से बहुत अधिक चली जाती है। आचार्य भिक्षु ने कहा—सुख की रात छोटी होती है, दु:ख की रात बहुत बडी लगती है। महाकवि कालिदास ने अणो रणीयान् महतो महीयान् इस समस्यापूर्ति मे यही कहा था—

"मै परम पवित्र यज्ञोपवीत को हाथ मे ले सौगन्ध खाकर कहता हू कि प्रिया के योग मे दिन अणु से भी अणु लगता है और उसके वियोग मे महान् से भी महान्।

महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने भी अपनी पत्नी को सापेक्षवाद इसी उदाहरण द्वारा समझाया था। उन्होने कहा— प्रिया के पास बैठे व्यक्ति को एक घटा दो मिनट के बराबर लगता है और भट्टी के पास बैठे व्यक्ति को दो मिनट घटा के बराबर लगने है।

स्वतन्त्रता और आत्मानुशासन

कितना मधुर है यह स्वतन्त्रता शब्द। एक तोता पेड़ की टहनी पर बैठकर जिस खुशी से झूमता है, वह उसी खुशी से सोने के पिंजड़े में नहीं झूमता। पिंजड़ा आखिर पिंजड़ा ही है, भले फिर वह लोहे का हो या सोने का। स्वतन्त्रता की मादकता का एक कण परतन्त्रता के सागर से अधिक मूल्यवान् और प्राणदायी होता है। परन्तु आश्चर्य है कि स्वतन्त्रता के अठारह वर्षों के बाद भी हिन्दुस्तान पूरी मादकता में नहीं झूम रहा है। ऐसा लगता है कि वह राजनीति की परतन्त्रता से मुक्त होकर भी मानसिक परतन्त्रता से मुक्त नहीं है। वाणी की स्वतन्त्रता उसे प्राप्त है, पर वाणी का संयम उसे प्राप्त नहीं है। लेखन की स्वतन्त्रता उसकी निर्बाध है पर लेखनी का संयम उसे ज्ञात नहीं है। उसके विचारों की अभिव्यक्ति पर कोई रोक नहीं लगा सकता पर उसे अपने-आप पर रोक लगाना भी पसन्द नहीं है। इस स्वतन्त्रता का अर्थ है मानसिक परतन्त्रता का उदय।

जनतन्त्र का मूल आधार है स्वतन्त्रता और उसका मूल आधार है व्यक्ति का आत्मानुशासन। जब कोई व्यक्ति अपने-आप पर अपना नियन्त्रण रख सकता है, तभी वह स्वतन्त्रता की लौ प्रज्वलित कर सकता है। अधिनायकता के युग में भय और आतंक का राज्य होता है, इसलिए व्यक्ति के आत्मानुशासन का विशेष मूल्य नहीं होता। जनतन्त्र के युग में अभय का राज्य होता है, इसलिए उसमें आत्मानुशासन का मूल्य बहुत बढ़ जाता है।

हिन्दुस्तान दुनिया का सबसे बड़ा जनतन्त्र है। उसके नागरिकों का आत्मानुशासन कैसा है, इस प्रश्न पर चाहे-अनचाहे दृष्टि जा टिकती है। इसका उत्तर जो मिलता है, वह सन्तोष नहीं देता। शासनतन्त्र के प्रमुख लोगों में सर्वाधिक आत्मानुशासन होना चाहिए पर वह नहीं है। वे अपने पद का लाभ भी उठाते हैं। पक्षपात की भी उनमें कमी नहीं है। अपने

कृपापात्रों के लिए वे कुबेर हैं तो अप्रियजनों के लिए अनुदार भी कम नहीं हैं। वे शासनतन्त्र संभालते हैं जनता की भलाई के लिए और उनका संघर्ष चलता है सदा कुर्सी की सुरक्षा के लिए। आर्थिक घोटालों के अनेक आरोप उन पर लगाए जाते हैं और वे प्रमाणित भी हो जाते हैं।

आत्मानुशासन की जन्मभूमि है शिक्षा-संस्थान। वहां राष्ट्र की नयी पौध का निर्माण होता है। उसकी स्थिति भी स्वस्थ नहीं है। वहां विलास फैशन और स्वच्छन्दता का इतना प्रबल अस्तित्व है कि आत्मानुशासन की एक अस्फुट रेखा भी नहीं दिखाई देती।

धर्म का क्षेत्र आत्मानुशासन का मुख्य क्षेत्र है। परन्तु स्वार्थों का संघर्ष वहां भी अपनी जड़ें जमा चुका है। इसलिए उसकी तेजस्विता भी धूमिल हो चुकी है। एक व्यक्ति ने मुझे बताया कि एक साधु कहता है मेरा नाम पहले क्यों नहीं आया? उसका पहले क्यों आया? कोई कहता है प्रमुख मैं हूं उसे प्रमुखता क्यों दी गई? इस वातावरण में आत्मानुशासन की गंध ही कहां है?

यह स्थिति का प्रत्यक्ष दर्शन है। इसके द्रष्टा अनेक लोग हैं, हम द्रष्टा रहकर स्थिति को नहीं बदल सकते। उसमें अपने संयम की आहुति देकर ही बदल सकते हैं। आज यह बहुत अपेक्षित है कि सब लोग आत्मानुशासन का मूल्यांकन करें और जन-जन को यह समझाएं कि स्वतन्त्रता का अर्थ है आत्मानुशासन का विकास।

जीवन-विकास के सूत्र

समानता

मेरा अस्तित्व मुझे प्रिय है। किन्तु 'मैं' पर जैसा मेरा अधिकार है, वैसा अस्तित्व पर नहीं है। मुझसे जो भिन्न है, उसका भी अस्तित्व है और वह उसे उतना ही प्रिय है जितना कि मेरा अस्तित्व मुझे प्रिय है। बाहरी उपकरणों की दृष्टि से हम भिन्न भी हो सकते है किन्तु अस्तित्व की भूमिका मे हम सब समान हैं।

शरीर, भाषा, भौगोलिक सीमाएं, सम्प्रदाय, जाति—ये सब समानता के समर्थक नहीं है किन्तु इनमे प्राण-संचार चैतन्य मे होता है और उसके जगत् मे हम सब समान है। हमारे मन मे असमानता के संस्कार अधिक तीव्र हैं। हमारी इन्द्रिया बाहर की ओर झांकती है और जो बाहर है, वह सब असमान है। असमानता के भाव से प्रेरित होकर हम अपने ही जैसे लोगों के साथ अन्याय करते है। हमारी न्याय-बुद्धि तभी जागृत हो सकती है, जब हम समानता की धारा को अविरल प्रवाहित करें। लोकतन्त्र समानता की प्रयोग-भूमि है। समान अधिकार का सिद्धान्त दार्शनिक समानता का व्यावहारिक रूप है। लोकतन्त्र की सफलता के लिए यह अपेक्षित है कि उसके नागरिकों में समानता के प्रति आस्था हो।

स्वतन्त्रता

कोई आदमी अन्याय करता है, इसका अर्थ है वह दूसरे के अधिकार का अपहरण करता है। कोई दूसरे के अधिकार का अपहरण करता है, इसका अर्थ है वह उसे अपने तंत्र मे रखना चाहता है। अपने तंत्र मे रखने का अर्थ है, उसे वह अपने-जैसा नही मानता।

बुद्धि और कर्मजा-शक्ति की विविधता होती है। बुद्धिमान् और समर्थ व्यक्ति मन्दबुद्धि और अक्षम व्यक्तियों को शासित करता है। यह सर्वथा अनुचित भी नहीं है। उनका हित-सम्पादन करने के लिए यदि वह ऐसा

करता है, तो कोई तर्क नही कि उसे अनुपादेय कहा जाए। किन्तु यदि वह अपना हित-साधन के लिए उन्हे शासित करता है तो वह समानता की आधार शिला को जर्जरित करता है। दूसरो की स्वतन्त्रता मे अमिट विश्वास हो तो क्या कोई व्यक्ति अन्याय कर सकता है? स्वतन्त्रता लोकतन्त्र की आत्मा है। यदि उसे लोकतन्त्र से अलग कर दिया जाए तो लोकतन्त्र का अर्थ होगा निरकुश राज्य। स्वतन्त्रता मे अमेय आस्था रखने वाला आक्रान्ता कसे होगा? परतन्त्रता की शृखला का नियम केवल दूसरो के लिए नही होता। स्वतन्त्रता मे अमेय आस्था रखने वाला आक्रान्ता कसे होगा? चिनगारी जो है, वह कभी भी अग्नि का रूप ले सकती है।

प्रामाणिकता

दूसरो के प्रति सच्चा रहना प्रामाणिकता तो है किन्तु यह भाषा कभी भी मुझे आकृष्ट नही कर सकी। प्रामाणिकता की जो परिभाषा मुझे आकृष्ट कर सकी वह है अपने प्रति सच्चा रहना। जो दूसरो का बुरा करने में अपना बुरा देखता है, वह बुराई से बच सकता है, पर निरपेक्ष दृष्टि से प्रामाणिक रह सकता है। जिसकी सचाई का आधार व्यवहार की पृष्ठ भूमि होता है, वह सच्चा रहता है तब जब कोई दूसरा देखता है। वह सच्चा रहता है तब जब प्रकाश मे होता है। अकेले मे और अधेरे मे जो सच्चाई प्राप्त होती है, वह अपने पर ही आधारित हो सकती है।

जो अपने प्रति सच्चा नही होता वह राष्ट्र के प्रति कभी भी सच्चा नही होता।

कई आदमी राष्ट्र की भलाई के लिए सच्चे होते है और कई अपनी भलाई के लिए। सचाई का बीज हर मनुष्य मे होता है।

वह निमित्त का निमित्त पाकर अकुरित हो उठता है। जो अपनी आत रिक प्ररणा से अकुरित होता है, वह परिस्थिति मे प्रभावित नही होता। बाहरी प्ररणा से अकुरित होने वाले के लिए [illegible] नही कही जा सकती कि वह परिस्थिति से प्रभावित [illegible] लोकतन्त्र का सौन्दय तो है ही फिर चाहे वह [illegible] टित हो।

अणु-अस्त्र और मानवीय दृष्टिकोण

आज का युग अणु-युग के नाम से प्रसिद्ध है। अणु पहले भी उतने ही थे, जितने आज हैं पर अणु-युग होने का श्रेय अतीत को नहीं मिला, वर्तमान को ही मिला है। एक युग में आत्म-द्रष्टा महर्षियों ने अपने प्रत्यक्ष-दर्शन के बल पर अणुओं की चर्चा की थी। आज का वैज्ञानिक अपने यन्त्र-बल के सहारे अणुओं की चर्चा करता है। स्थूल से सूक्ष्म और महान् से मेय अधिक शक्तिशाली होता है, यह रहस्य आज सर्वविदित हो चुका है। यह इसी सिद्धान्त की एक परिणति है।

जब तक मनुष्य में आत्मानुशासन था, असंग्रह था और अपने में 'स्व' का सन्तोष मानने का मनोभाव था तब तक वह निर्भय था। इसका अर्थ है कि वह शस्त्रहीन था। भय और शस्त्र में कार्य-कारण का सम्बन्ध है। भय होता है, शस्त्र का निर्माण होता है। भय नष्ट होता है, शस्त्र विलीन हो जाता है। आत्मानुशासन घटा, संग्रह बढ़ा, दूसरों के 'स्व' को हड़पने का मनोभाव बना तब भय बढ़ा या उसकी सृष्टि ने शस्त्रों की परम्परा को जन्म दिया। इस परम्परा में अणु-अस्त्र अन्तिम है। भविष्य के गर्भ में इससे अधिक प्रलयकारी शस्त्र भी हो सकता है पर वर्तमान में यह सर्वाधिक प्रलयकारी है। सहज ही जिज्ञासा होती है कि मनुष्य निर्माण चाहता है, फिर उसने प्रलय का संग्रह क्यों किया ? इसके अनेक उत्तर हो सकते हैं किन्तु मेरी मान्यता में इसका कारण मनुष्य की खण्डता है। यदि वह अखण्ड होता तो किसके प्रति आकृष्ट होता और किससे दूर होता ? किससे डरता और किसके लिए शस्त्र बनाता ? पर किया क्या जाय, यह अखण्डता नैसर्गिक है। एक-एक मनुष्य शरीर, मानसिक चिन्तन, परिवार, जाति, समाज, प्रान्त और राष्ट्र आदि अनेक खण्डताओं में खण्डित है। बाहरी और भीतरी चारों ओर के वातावरण ने उसे व्यक्तिवादी बना रखा है। समाजवाद के

दीर्घकालीन कठोर प्रयत्नो के उपरान्त भी यह असभ्यता की मनोवृत्ति अभी टूट नही पायी है। यदि रूसी समाजवाद असभ्यता की ओर गतिशील होता तो उसके पास अणु-अस्त्र नही होते। उसका सामुदायिकता का सिद्धान्त केवल अपने राष्ट्र की व्यवस्था पर है। असभ्यता की मनोवृत्ति वहाँ भी उतनी है जितनी अन्यत्र है। इसीलिए अस्त्रो की होड चल रही है।

पहले मान्यता स्थिर होती है फिर कार्य होता है। लोगो ने मान रखा है कि शक्ति सतुलन ही शान्ति का सर्वोत्तम उपाय है। रूस और अमेरिका मे से कोई भी इस दौड मे पिछड जाता तो युद्ध शुरू हो जाता। दोनो साथ साथ चल रहे है, इसलिए युद्ध रुका है। तर्क के प्रति कोई तर्क नही है। क्योकि बहुतो ने इसे अकाट्य मान रखा है। जो अकाट्य हो उसे काटने का प्रयत्न क्यो किया जाय ? हम तर्क से ऊपर उठकर देखते है तो लगता है कि इस तर्क का मूल्य कल्पनाजगत मे है। यथार्थ मे वह शून्य है। यदि युद्ध छिडता है तो दोनो सुरक्षित नही है। दुनिया का कोई कोना सुरक्षित नही है और यदि युद्ध नही होता है तो अणु-अस्त्रो का निर्माण कोरा अपव्यय है। इसका निर्माण दोनो दृष्टियो से व्यर्थ है। पर कोई एक करता है तो दूसरा कैसे भी रुक सकता है ? मानवता के प्रति सबसे बडा अन्याय उसने किया जिसने अणु-अस्त्रो के निर्माण मे पहल की। हम वर्तमान प्रश्न पर सोचे तो क्या यह सर्वथा निश्चित है कि शक्ति-सतुलन रहने पर युद्ध नही होगा ? कभी-कभी आदमी मे उन्माद भी आ जाता है, आवेग भी आता है। मानसिक-सतुलन खो बैठने पर क्या कोई भी आदमी आगे-पीछे की सोचता है। मानवीय दुर्बलताओ से हम अपरिचित नही है। हम इससे भी सुपरिचित है कि दुर्धर्ष व्यक्तियो की भूल का परिणाम समूचे ससार को भोगना पडता है। द्वितीय महायुद्ध का परिणाम किसने नही भोगा ? अणु युद्ध का परिणाम कितना भयकर है इसकी कल्पना ही थर्रा देती है। जो लोग मानवता की दृष्टि से देखते है, वे अणु-अस्त्रो के निर्माण का विरोध कर रहे है पर वे कितने है ? बहुत थोडे। अधिक वे है जो मानवता के विनाश को अपने सिरहाने रखकर सोते है। अपने विनाश की तैयारी पशु भी नही करता। मनुष्य महापशु बन रहा है जो अपने ही हाथो अपनी चिता रच रहा है। मनुष्य से घबराना नही चाहिए किन्तु ऐसा मूर्खतापूर्ण

निमंत्रण भी उसे नहीं देना चाहिए ।

वे थोड़े से व्यक्ति, जिनके हाथ में सत्ता है, इस प्रश्न पर मानवीय दृष्टि से नहीं सोच रहे हैं। वे सोच रहे हैं, राष्ट्रीय दृष्टि से । पर राष्ट्र रहेगा कैसे जब मनुष्य ही नहीं होगा ? अणु-अस्त्रों से मृतप्राय मनुष्य-जाति क्या राष्ट्र को समुन्नत रख सकेगी ? अणु-अस्त्रों से अभिशप्त अन्धी, बहरी भावी पीढ़ी से क्या राष्ट्र समुन्नत होंगे ? सारी स्थिति बहुत स्पष्ट है, निर्विवाद है, उसे जानते हुए भी जो अनजान बन रहे हैं, उन्हें कैसे जगाया जाए ? आज इस दिशा में तीव्र प्रयत्न की आवश्यकता है । शान्ति प्रतिष्ठान ने अभी-अभी एक अणु-अस्त्र-विरोधी सम्मेलन बुलाया था। वह भी शायद शीघ्रता में हुआ होगा । इसीलिए वहाँ शान्ति के लिए अनवरत प्रयत्न करने वाले अनेक संस्थाओं के प्रतिनिधि नहीं थे। अध्यात्मवादी या शान्ति की दिशा में प्रयत्न करनेवाले शायद मिलना नहीं जानते। वे किसी-न-किसी बहाने पृथक् होकर चलते हैं। हिंसा में अपूर्व मेल होता है। उसकी शक्ति तत्काल एकत्रित हो जाती है। हमें अहिंसा की शक्ति को संचित करना है। निःशस्त्रीकरण की दिशा में कोई राष्ट्र पहल करने को तैयार नहीं है। पूर्ण निःशस्त्रीकरण सर्वथा वाञ्छनीय होने हुए भी, सम्भव है तत्र के लिए व्यावहारिक न हो किन्तु अणु-अस्त्र जैसे मानव-जाति के प्रलय-कारी अस्त्रों के निर्माण तथा संग्रह का उत्सर्ग करना अनिवार्य है। इस दिशा में जो पहल करेगा, वह मानवता का सबसे बड़ा पुजारी होगा।

युद्ध की कल्पना करना बहुत धृष्टता की बात है। किन्तु युद्धकाल में भी युद्धस्थली से अतिरिक्त क्षेत्र को प्रभावित करने वाले अस्त्रों के निर्माण और प्रयोग पर एक अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण हो और यदि वह मानवता की अखण्डता के आधार पर हो तो वह विकास का एक बहुत बड़ा चरण होगा ।

योग

योग शब्द युज् धातु से बनता है। उसके दो अर्थ है—जोडना और समाधि। साधना-काल मे मन आत्मा से जुडता है इसलिए आत्मा और मन के सम्बन्ध को योग कहा जाता है। साधना-काल मे मन की समाधि हो जाती है, अत उस समाधि दशा को योग कहा जाता है। जैन-साहित्य मे योग के अर्थ मे समाधि का प्रयोग अधिक होता है।

महर्षि पतजलि के अनुसार चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा जाता है। *आचार्य हरिभद्र के अनुसार मोक्ष से सम्बन्ध कराने वाला समूचा धर्म व्यापार योग है।* मनोनुशासनम् मे योग की परिभाषा इन दोनो से भिन्न है। समाधि का अर्थ है, आत्मा की सहज अवस्था। वह आहार श्वास उच्छ्वास शरीर, इन्द्रिय वाणी और मन के शोधन तथा निरोध से प्राप्त होती है। इसलिए उन्ही के शोधन तथा निरोध को योग कहा गया है।

आहार शुद्धि के बिना समाधि-दशा प्राप्त नही हो सकती इसलिए आहार की शुद्धि करो और पूर्ण समाधि के लिए आहार का निरोध करो। इसी प्रकार श्वास-उच्छ्वास इन्द्रिय वाणी और मन की शुद्धि के बिना समाधि-दशा प्राप्त नही हो सकती। इसलिए इनकी शुद्धि करो और पूर्ण समाधि के लिए इनका निरोध करो।

योग के चार प्रकार

योग के आचार्यों ने योग के चार प्रकार बतलाए है

(१) हठयोग
(२) लययोग
(३) मन्त्रयोग
(४) राजयोग

हठयोग हठयोग का सांकेतिक अर्थ है सूर्य और चन्द्र को एकत्र करने *की कला। हठयोगी हकार का अर्थ सूर्य और ठकार का अर्थ चन्द्र*

करते है। सूर्य और चन्द्र दोनो लाक्षणिक शब्द है। सूर्य प्राण-वायु और चन्द्र अपान-वायु का वाचक है। इन दोनो पर विजय प्राप्त करना हठयोग का मुख्य उद्देश्य है।

हठयोग के आठ अग है

(१) यम	(५) प्रत्याहार
(२) नियम	(६) धारणा
(३) आसन	(७) ध्यान
(४) प्राणायाम	(८) समाधि

वायुविजय के लिए इनमे प्राणायाम ही मुख्य है। उसके तीन रूप है

(१) पूरक
(२) रेचक
(३) कुम्भक

श्वास भरने को पूरक, बाहर निकालने को रेचक और रोकने को कुम्भक कहा जाता है। श्वास बाहर रोका जाता है, उसे बहि कुम्भक और भीतर रोका जाता है, उसे आन्तरिक कुम्भक कहा जाता है।

सूर्य अर्थात् प्राण-वायु का स्थान हृदय है। चन्द्र अर्थात् अपान-वायु का स्थान नासिकाग्र से बारह अगुल पर है। इन दोनो का मिलन दोनो कुम्भको मे होता है। हृदय मे चन्द्र (अपान-वायु) लय पाता है और सूर्य प्राण-रूप होकर बाहर नही निकलता तब तक आन्तरिक कुम्भक होता है। चन्द्र के स्थान मे सूर्य (प्राण-वायु) लय पाता है और चन्द्र अपान-रूप मे ऊपर उठना प्रारम्भ नही करता तब तक बहि कुम्भक होता है। इन दोनो दशाओ मे दोनो वायु मिलते है। इसलिए इसे सूर्य-चन्द्र का एकत्रीकरण, मिलन अथवा हठयोग कहा जाता है।

लययोग छह या नव चक्रो (नाडी-ग्रन्थि स्थानो) मे धारणा ध्यान करते-करते मन का लय होना है, वह लययोग है।

लय अर्थात् बाह्य ज्ञान मे शून्य हो जाना, चित्त को किसी वस्तु मे खो देना, चित्त का किसी अनिर्देश्य आकार मे विलय कर देना।

मत्रयोग मन्त्र का जप अथवा इष्ट की आराधना करते-करते जो मन

का लय होता है वह मन्त्रयोग है।

राजयोग शरीर वायु और मन को स्थिर करना राजयोग है। यह प्राणायाम या प्राणविजय की प्रक्रिया है।

योग चतुष्टय के परिवार के रूप मे बन्ध नाडी वायु तत्त्व अप चक्र अग्नि का ज्ञान आवश्यक है।

बन्ध

बन्ध तीन हैं

(१) जालन्धर

(२) उड्डीयान

(३) मूल

(१) जालन्धर ठुड्डी को कण्ठकूप मे स्थापित करने को जालन्धर बन्ध कहा जाता है। सर्वांगासन हलासन तथा मत्स्यासन की एक मुद्रा में यह अपने-आप हो जाता है। मानसिक विकास के लिए यह बहुत उपयोगी है। इससे कण्ठमणि (थाइरायड ग्लैण्ड) पर उचित दबाव पडता है। आधुनिक शरीर-शास्त्रियो के अनुसार कण्ठमणि ही शरीर में रक्त-स्राव तथा प्रेम ईर्ष्या द्वेष आदि वृत्तियों को उत्पन्न करने वाला है। इससे थाइरो क्सिन रस का स्राव होता है। वह उक्त वृत्तियों को उत्पन्न करता है। यह हमारे शरीर की नियामक ग्रन्थि है। इस पर जालन्धर बन्ध के द्वारा हम नियन्त्रण रख सकते है और अनेक उपयोगी रसो का स्राव कर सकते हैं।

(२) उड्डीयान पेट को अन्दर सिकोडने और फिर बाहर फुलाने को उड्डीयान बन्ध कहा जाता है।

(३) मूल गुदा के ऊर्ध्वाकर्षण को मूल बन्ध कहा जाता है।

नाडियां

प्रधान नाडियां तीन है

(१) सूर्य नाडी—इडा

(२) चन्द्र नाडी—पिंगला

(३) सुषुम्ना

सूर्य नाडी की उत्पत्ति मणिपूर चक्र से दाए नथुने से मिलती हुई होती है इसलिए उसका स्वभाव गर्म होता है। बाए नथुने से श्वास अनाहत चक्र

तक जाकर वापस आता है, वह श्वास चन्द्रामृत में आता है, इसलिए ठण्डा होता है। सूर्य (हृदय) का स्पर्श कर जो वायु बाहर निकलता है, वह उष्ण और जो चन्द्र (नासिकाग्र से बाहर बारह अगुल स्थान) का स्पर्श कर अन्दर आता है, वह शीत होता है।

चन्द्र नाडी में प्राण की गति होती है, तब शरीर शीत होता है। सूर्य नाडी में प्राण की गति होती है, तब शरीर उष्ण होता है, इसलिए यह मान्यता है कि दिन में चन्द्र और रात को सूर्य नाडी चलानी चाहिए। प्रात और मध्याह्न में जिस व्यक्ति का चन्द्र-स्वर और सायकाल में सूर्य-स्वर चलता है, वह स्वस्थ होता है। भोजन के बाद आधी घडी तक सूर्य-स्वर और जल पीने के बाद आधी घडी तक चन्द्र-स्वर चलता रहे तो स्वास्थ्य के लिए हितकर होता है। चन्द्र-स्वर में पित्त-प्रकोप से उत्पन्न रोग दूर होते है और सूर्य-स्वर मे वात-कफ के प्रकोप से उत्पन्न रोग दूर होते हैं।

वायु

वायु के पाच प्रकार है

(१) प्राण
(२) उदान
(३) व्यान
(४) समान
(५) अपान

इनके स्थान, गति और कार्य इस प्रकार हैं

स्थान सिर, छाती, हृदय, पाचकाग्नि के पास, गुदा।

गति छाती, कण्ठ, नासा, नाभि, गला, सर्वत्वचा, कोष्ठ, श्रोणि, वस्ति, मेहन, ऊरु।

कार्य (१) बुद्धि, हृदय, इन्द्रिय और मन को धारण करना तथा थूकना, छीक, डकार, नि श्वास और अन्न-प्रवेश—ये प्राण-वायु के कार्य हैं।

(२) वाणी की प्रवृत्ति, उत्साह, बल, वर्ण, कफ, स्मृति—ये उदान-वायु के कार्य हैं।

(३) गति, अग के नीचे ले जाना, ऊपर लाना, आख को मूदना-

का लय होता है वह मन्त्रयोग है।

राजयोग शरीर वायु और मन को स्थिर करना राजयोग है। यह प्राणायाम या प्राणविजय की प्रक्रिया है।

योग-चतुष्टय के परिवार के रूप मे बन्ध नाड़ी वायु, तत्त्व जप चक्र आदि का ज्ञान आवश्यक है।

बन्ध

बन्ध तीन है

(१) जालन्धर

(२) उड्डीयान

(३) मूल

(१) जालन्धर ठुड्डी को कण्ठ कूप मे स्थापित करने को जालन्धर बन्ध कहा जाता है। सर्वांगासन हलासन तथा मत्स्यासन की एक मुद्रा मे यह अपने-आप हो जाता है। मानसिक विकास के लिए यह बहुत उपयोगी है। इससे कण्ठमणि (थाइरायड ग्लैण्ड) पर उचित दबाव पड़ता है। आधुनिक शरीर-शास्त्रियों के अनुसार कण्ठमणि ही शरीर मे रक्त-ताप तथा प्रेम ईर्ष्या [illegible] आदि वृत्तियों को उत्पन्न करने वाला है। इससे थाइरो क्सिन रस का स्राव होता है। वह उक्त वृत्तियों को उत्पन्न करता है। यह दूसरे शरीर की नियामक ग्रन्थि है। इस पर जालन्धर बन्ध के द्वारा हम नियमण रख सकते हैं और अनेक उपयोगी रसो का स्राव कर सकते हैं।

(२) उड्डीयान पेट को अन्दर सिकोड़ने और फिर बाहर फुलाने को उड्डीयान बन्ध कहा जाता है।

(३) मूल गुदा के ऊर्ध्वाकर्षण को मूल बन्ध कहा जाता है।

नाड़ियाँ

प्रधान नाड़ियाँ तीन हैं

(१) सूर्य नाड़ी—इडा

(२) चन्द्र नाड़ी—पिंगला

(३) सुषुम्ना

सूर्य नाड़ी की उत्पत्ति मणिपुर चक्र से दाएं नथुने मे मिलती [illegible] होती है इसलिए उसका श्वास गर्म होता है। बाए नथुने मे श्वास अनाहत चक्र

खोलना—ये व्यान-वायु के कार्य हैं।

(४) अन्न को ग्रहण करना, पचाना, विवेचन करना, सार और असार में भेद करना और असार भाग (मल-मूत्र) को नीचे सरकाना—ये समान वायु के कार्य हैं।

(५) वीर्य, रज, मल, मूत्र को बाहर निकालना अपान-वायु का कार्य है।

विकृति और परिणाम

१ रूक्षता, व्यायाम, लंघन, चोट, यात्रा तथा वेग निरोध से प्राण-वायु विकृत होती है। इसके परिणाम हैं—वायु आदि इन्द्रियों का विनाश, पीनस, अर्दित, प्यास, कास, श्वास आदि रोगों की उत्पत्ति।

२ छींक, डकार, वमन एवं नींद के वेगों को रोकने तथा अति रुदन, अति हास्य एवं भारी बोझ उठाने से उदान-वायु विकृत होती है। इसके परिणाम हैं—कण्ठ रोध, मन भ्रंश, वमन, रुचि का नाश, पीनस, गलगण्ड आदि रोगों की उत्पत्ति।

३ अति भ्रमण, चिन्ता, खेल, विषम-चेष्टा, रूक्ष भोजन, भय, हर्ष एवं शोक से व्यान-वायु विकृत होती है। इसके परिणाम हैं—पुरुषत्व-हानि, उत्साह-हानि, बल-हानि, चित्त की बेचैनी, अंगों में जड़ता, कुष्ठ, विसर्प आदि रोगों की उत्पत्ति।

४ विषम भोजन, अजीर्ण भोजन, शीत भोजन और संकीर्ण भोजन तथा असमय में सोने या जागने से समान-वायु विकृत हो जाती है। इसके परिणाम हैं—शूल, गुल्म, ग्रहणी आदि पक्वाशय के रोगों की उत्पत्ति।

५ सूक्ष्म तथा भारी अन्न के सेवन, वेगों को रोकने या अति प्रवृत्ति करने, अति बैठने, खड़े रहने तथा चलने से अपान-वायु विकृत होती है। इसके परिणाम हैं—पक्वाशयगत कष्टसाध्य रोगों एवं वीर्य रोगों, अर्श, गुद भ्रंश आदि रोगों की उत्पत्ति।

कुछ योग-ग्रन्थों में इस विषय का प्रतिपादन निम्न प्रकार मिलता है। यह संक्षिप्त-सरल है

वायु	केन्द्र-स्थान	कार्य
प्राण	हृदय	[illegible] करना।
अपान	गुदा	मल-मूत्र विसर्जन।
समान	नाभि	भुक्त आहार का पाचन-[illegible] करना।
उदान	कण्ठ	मस्तिष्क में रक्त पहुँचाना।
व्यान	समस्त शरीर	[illegible] को गति देना।

तत्त्व

मूलतः प्राण एक ही है। अणुओं के न्यूनाधिक धर्म या कम्पन के अनुसार उसके पांच विभाग होते हैं। उनके नाम, क्षेत्र, रंग, आकार आदि इस प्रकार हैं

	नाम	क्षेत्र	रंग	आकार	रस-स्वाद
१	पृथ्वी	अल्पतर	पीला	चतुष्कोण	मधुर
२	जल	अल्प	सफेद या बैंगनी	अर्द्धचन्द्राकार	कसैला
३	तैजस्	तीव्र	लाल	त्रिकोण	तीखा
४	वायु	तीव्रतर	नीला या आसमानी	गोल	खट्टा
५	आकाश	तीव्रतम	काला या नीलाभ	अनेक बिन्दु गोल (या आकार-शून्य)	बेस्वाद

		लम्बाई	गति
१	पृथ्वी	नाक से बाहर १२ अंगुल	नासिका के समीप—नासिका के नीचे १६ अंगुल तक स्पर्श।
२	जल	नाक से बाहर १६ अंगुल	नासिका के नीचे भाग में—१२ अंगुल तक स्पर्श।
३	तैजस्	नाक से बाहर ४ अंगुल	नासिका के ऊपरी भाग में—८ अंगुल तक स्पर्श।
४	वायु	नाक से बाहर ८ अंगुल	नासिका के दाएं-बाएं—४ अंगुल तक स्पर्श।
५	आकाश	अस्पष्ट	दोनों स्वरों के अन्दर बहकर गतिशून्य हो जाता है।

	गुण		कार्य	इन्द्रिय-व्यापार
१ पृथ्वी	रिक्तस्थान	जड़ता	हड्डी मांस त्वचा नाड़ी रोम	सूंघना
२ जल	कम्पन	शीतलता	वीर्य रक्त मज्जा मूत्र लार	स्वाद
३ तेजस्	प्रसरण	उष्णता	क्षुधा प्यास नींद जड़ता आलस्य	देखना
४ वायु	संकोचन	सावधानता	धावन चलन मोड़न संकोच प्रसारण	स्पर्श करना
५ आकाश	निरोध	कान्ति	राग द्वेष लज्जा भय मोह	सुनना

स्वर और तत्त्व

१	चन्द्र-स्वर पृथ्वी	मानसिक धैर्य उत्साह आदि की प्राप्ति।
२	चन्द्र-स्वर जल	मित्र-प्रेम सम्मान आदि की प्राप्ति।
३	चन्द्र-स्वर तेजस	क्लेश-हानि आदि।
४	चन्द्र-स्वर वायु	क्लेश-हानि आदि।
५.	चन्द्र-स्वर आकाश	शून्यता आलस्य प्रमाद।
१	सूर्य-स्वर पृथ्वी	सुख विनोद आदि की प्राप्ति।
२	सूर्य-स्वर जल	विराग विवेक सन्तोष आदि।
३	सूर्य-स्वर तेजस्	उग्र आदि।
४	सूर्य-स्वर वायु	दुःख सन्ताप आदि।
५	सूर्य-स्वर आकाश	रोग भय शोक आदि।

करणीय कार्य

१ पृथ्वी तत्त्व में विचारप्रधान स्थिर कार्य।
२ जल तत्त्व में चर कार्य।
३ तेजस तत्त्व में बहुश्रमसाध्य कार्य।
४ वायु तत्त्व में क्रूरतापूर्ण कार्य।
५ आकाश तत्त्व में केवल तत्त्व विद्या का अभ्यास।

सौम्य कार्यों में चन्द्र-स्वर और पृथ्वी तत्त्व व्यवहृत किए जाते हैं, क्रूर

कार्यों में सूर्य-स्वर और अग्नि-तत्त्व। पृथ्वी और जल तत्त्व आरोग्यकारक और सफलता के हेतु होते हैं। वायु और आकाश तत्त्व आरोग्यकारी किन्तु शुभ कार्यों के लिए अनुपयुक्त होते हैं। सूर्य-स्वर में अग्नि और वायु तत्त्व उत्तम होते हैं। चन्द्र-स्वर और जल तत्त्व प्रवहमान हो तो ज्वर-निवृत्ति होती है। चन्द्र-स्वर में जल तत्त्व चले तो शरीर में प्रविष्ट स्थावर जंगम विष दूर होता है। पृथ्वी तत्त्व की अधिकता में यकृत-सम्बन्धी रोग दूर होते हैं।

बीज

१	पृथ्वी	ल	सोम-बुद्ध	पृथ्वी
२	जल	व	मंगल-शुक्र	अग्नि
३	तेजस्	ह	गुरु	वायु
४	वायु	म	शनि-रवि	जल
५	आकाश	र	सूर्योदय के समय ये तत्त्व चलते हैं तो शरीर को निरोग समझना चाहिए।	

तत्त्व की पहचान

सर्वेन्द्रियगोपन मुद्रा करने पर जिस रंग का बिंदु दीखे, वही तत्त्व प्रवहमान समझना चाहिए। अभ्यास-काल में जो तत्त्व प्रवहमान हो, उसके बीज मंत्र का जप करना चाहिए। काम, क्रोध, भय आदि से तत्त्व के आन्दोलन में न्यूनाधिकता होती है। उसमें तत्त्व विषम हो जाते हैं। तत्त्व की विषमता से रोग उत्पन्न होते हैं। क्रोध से अग्नि तत्त्व प्रधान हो जाता है, मोह से जल तत्त्व और भय से पृथ्वी तत्त्व-रोग का अर्थ है तत्त्व-वैषम्य और आरोग्य का अर्थ है तत्त्व-साम्य। लोम-विलोम प्राणायाम से तत्त्व-वैषम्य दूर होता है।

चक्र और तत्त्व

मूलाधार चक्र	पृथ्वी तत्त्व
स्वाधिष्ठान चक्र	जल तत्त्व
मणिपूर चक्र	तैजस् तत्त्व
अनाहत चक्र	वायु तत्त्व
विशुद्ध चक्र	आकाश तत्त्व

कायोत्सर्ग

साधना का अर्थ है अध्यवसाय (अचेतन) मन में निमग्न होना। उसकी अनेक कक्षाएं हैं।

पहली कक्षा है—

कायोत्सर्ग—देह विसर्जन या शिथिलीकरण का अभ्यास।

दूसरी कक्षा है—

आत्म विश्लेषण की पद्धति द्वारा अचेतन अवचेतन और चेतन भावनाओं का प्रकटीकरण। अवदमित सम्पर्कों विचारों और आवेगों का प्रकटीकरण परिवर्तन और शोधन।

आत्म विश्लेषण के तीन अंग हैं

१ आत्म निरीक्षण २ आलोचना ३ प्रायश्चित्त।

तीसरी कक्षा है—

भावना—आत्मोन्मुखी प्रवृत्तियों का बार-बार अभ्यास।

चौथी कक्षा है—

ध्यान—चित्त का एकाग्रीकरण या निरोध।

पांचवीं कक्षा है—

स्वाध्याय आत्मोन्मुखी चिन्तन-मननगत तन्मयता।

छठी कक्षा है—

प्रतिसंलीनता—इन्द्रियों को अन्तर्मुखी बनाना।

सातवीं कक्षा है—

योगासन।

आठवीं कक्षा है—

सुखद सामुदायिक जीवन।

इसके दो अंग हैं

१ विनय, २ सेवा।

नवीं कक्षा है—

आहार-संयम।

साधना की ये नौ कक्षाएं हैं। प्रस्तुत निबन्ध में मैं पहली कक्षा पर प्रकाश डालूंगा।

कायोत्सर्ग : सिद्धान्त पक्ष

प्रवृत्ति के तीन स्रोत हैं—काय, वाणी और मन। इनमें मुख्य काय है। वाणी और मन उसके माध्यम से ही प्रवृत्त होते हैं। काय के स्पन्दन-काल में वाणी और मन प्रस्फुटित होते हैं। उसकी अस्पन्द-दशा में वे विलीन हो जाते हैं। शास्त्रीय परिभाषा यह है—भाषा और मन की पुद्‌गल वर्गणाओं का ग्रहण काय-योग के द्वारा होता है। फिर उनका भाषा और मन के रूप में परिणमन होता है और विसर्जन-काल में वे भाषा और मन कहलाते हैं—भाष्यमाणी भाषा होती है, पहले-पीछे नहीं होती, इसी प्रकार मन्यमान मन होता है, पहले-पीछे नहीं होता।

काय वाणी और मन की प्रवृत्ति का स्रोत है, इसीलिए उसकी निवृत्ति या स्थिरता वाणी और मन की स्थिरता का आधार बनती है। काय का त्याग होने पर वाणी और मन स्वयं त्यक्त हो जाते हैं।

कायोत्सर्ग : अभ्यास-पक्ष

कायोत्सर्ग (शरीर-विसर्जन) की पहली प्रक्रिया शिथिलीकरण है। यदि आप बैठे-बैठे कायोत्सर्ग करना चाहते हैं तो सुखासन में बैठ जाइए—पालथी बांधकर या अर्ध पद्मासन या पद्मासन लगाइए। फिर पृष्ठ वंश (रीढ़ की हड्डी) और गर्दन को सीधा कीजिए। यह ध्यान रहे कि उनमें न झुकाव हो और न तनाव हो। वे शिथिल भी रहें और सीधे सरल भी। अब दीर्घ श्वास लीजिए। श्वास को उतना लम्बाइए जितना बिना किसी कष्ट के लम्बा सकें। इससे शरीर और मन दोनों के शिथिलीकरण में बड़ा सहारा मिलेगा। आठ-दस बार दीर्घ श्वास लेने के बाद वह क्रम सहज हो जाएगा। फिर शिथिलीकरण में मन को लगाइए। स्थिर बैठने से कुछ-कुछ शिथिलीकरण तो अपने-आप हो जाता है। अब विचारधारा द्वारा प्रत्येक अवयव को शिथिल कीजिए। मन को उसी अवयव में टिकाइए, जिसे आप

शिथिल कर रहे है। अवयवो को शिथिल करने का क्रम यह रखिए—गर्दन कंधा छाती पेट—दाएं-बाएं पृष्ठ-भाग भुजा हाथ हथेली उंगली कटि टांग पर और उंगली। अब मांसपेशियों को शिथिल कीजिए। मन से शरीर के भाग और मांसपेशियों का अवलोकन कीजिए। इस प्रकार अवयवो और मांसपेशियों के शिथिलन के बाद स्थूल-शरीर से सम्बन्ध विच्छेद और सूक्ष्म-शरीर से दृढ सम्बन्ध-स्थापन का ध्यान कीजिए।

सूक्ष्म शरीर दो हैं (१) तैजस (२) कार्मण।

तैजस-शरीर विद्युत् का शरीर है। उसके साथ सम्बन्ध स्थापित कर प्रकाश का अनुभव कीजिए। शक्ति और दीप्ति की प्राप्ति का यह प्रबल माध्यम है।

कार्मण शरीर के साथ सम्बन्ध स्थापित कर भेद विज्ञान का अभ्यास कीजिए।

इस भूमिका में ममत्व विसर्जन हो जाएगा।

शरीर मेरा है—यह मानसिक भ्रांति विसर्जित हो जाएगी।

यदि आप सोकर कायोत्सर्ग करना चाहते हैं तो—

१ सीधे लेट जाएं।
२ सिर से लेकर पैर तक के अवयवो को पहले तान और फिर क्रमश उन्हें स्थिर करें।
३ दीर्घ श्वास लें।
४ सम मात्रा में श्वास लें।
५ मन को श्वास-प्रश्वास में लगा किसी एक विचार पर स्थिर हो जाएं।

सुप्त कायोत्सर्ग में दोनों हाथों-पैरों को अलग अलग रखिए। यदि आप खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करना चाहते हैं तो—

१ पैरो के पंजो को पीछे से सटाकर और आगे से चार अंगुल के अन्तर से स्थापित कर खड़े हो जाइए।
२ दोनों हाथों को नीचे की ओर फैला दीजिए।
३ दीर्घ श्वास लीजिए।
४ मानसिक निरीक्षण के साथ-साथ शरीर के हर अवयव को शिथिल कीजिए और ध्यान में मग्न हो जाइए।

कायोत्सर्ग के साथ यथास्थान इन संकल्पों को दोहराइए

१ शरीर शिथिल हो रहा है।
२ श्वास शिथिल हो रहा है।
३ स्थूल शरीर का विसर्जन हो रहा है।
४ तैजस शरीर प्रदीप्त हो रहा है।
५ कार्मण शरीर भिन्न हो रहा है।
६ ममत्व विसर्जन हो रहा है।
७ मैं आत्मस्थ हो रहा हूं।*

ब्रह्मचर्य

जब हम दीक्षित हुए थे उस समय हमने पाँच महाव्रत स्वीकार किए थे। वह स्वीकार संकल्पज स्वीकार था।

संकल्पज स्वीकार से साधना का प्रवेशद्वार खुलता है किन्तु सिद्धि नहीं मिलती। उसके लिए अधिक साधना अपेक्षित है। वह अनेक उतार चढ़ावों के बाद प्राप्त होती है।

ब्रह्मचर्य दो भागों में विभक्त है—संकल्प सिद्ध-ब्रह्मचर्य और सिद्ध ब्रह्मचर्य। सिद्ध-ब्रह्मचर्य की भूमिका तक पहुँचना हमारा लक्ष्य है। शास्त्रों में 'घोर ब्रह्मचारी' शब्द आता है। वह एक विशेष प्रकार की लब्धि (योगज शक्ति) है। वह दीर्घकालीन साधना से उपलब्ध होती है। राजवार्तिक के अनुसार जिसका वीर्य स्वप्न में भी स्खलित न हो वह घोर ब्रह्मचारी होता है। जिसका मन स्वप्न में भी अणु मात्र विचलित नहीं होता उसे घोर-ब्रह्मचर्य की लब्धि प्राप्त होती है। शुभ संकल्पों और साधना के द्वारा इस भूमिका तक पहुँचा जा सकता है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है—मैथुन विरति या सर्वेन्द्रियोपरम। असत्य चोरी आदि का सम्बन्ध मुख्यतः मानसिक भूमिका से है। ब्रह्मचर्य दैहिक और मानसिक दोनों भूमिकाओं से सम्बन्धित है। अतः उसकी पालना के लिए शरीर-शास्त्रीय ज्ञान भी आवश्यक है। उसके अभाव में ब्रह्मचर्य को समझने में भी कठिनाई होती है।

अब्रह्मचर्य के दो कारण हैं १ मोह २ शारीरिक परिस्थिति।

व्यक्ति जो कुछ खाता है उसके शरीर में प्रक्रिया चलती है। उसकी पहली परिणति रस है। वह शोणित आदि धातुओं में परिणत होता हुआ सातवीं भूमिका में वीर्य बनता है। उसके बाद वह ओज के रूप में शरीर में व्याप्त होता है। ओज केवल वीर्य का ही सार नहीं है। वह सब धातुओं का सार है। शरीर में अनेक नाड़ियाँ हैं। उनमें एक काम-वाहिनी

नाडी है। उसका स्थान पैर के अंगूठे से लेकर मस्तिष्क के पिछले भाग तक है। काम-वासना को मिटाने के लिए जो आसन किए जाते हैं उन आसनों से इसी नाडी पर नियन्त्रण किया जाता है। खाने से वीर्य बनता है। वह रक्त के साथ भी रहता है और वीर्याशय में भी जाता है। वीर्याशय में अधिक वीर्य जाने से अधिक उत्तेजना होती है और काम-वासना भी अधिक जागती है। ब्रह्मचारी के सामने यह एक कठिनाई है कि वह भोजन-पान तो नहीं छोड सकता। जो खाता है उसका रस आदि भी बनता है। वीर्य भी बनता है। वह अण्डकोश में जाकर संगृहीत भी होता है और वह वीर्याशय में भी जाता है। योगियों ने इस समस्या पर विचार किया कि इस परिस्थिति को बिगडना ही माना जाय या इस पर नियन्त्रण पाने का कोई उपाय खोजा जाय। उन्होंने स्पष्ट अनुभव किया—वीर्य केवल वीर्याशय में जाएगा तो पीछे से चाप पडने से आगे का वीर्य बाहर निकलेगा, फिर दूसरा आएगा और वह भी खाली होगा। खाली होना और भरना यही क्रम रहेगा तो शरीर के अन्य तत्त्वों को पोषण नहीं मिलेगा। इसलिए उन्होंने वीर्य को मार्गान्तरित करने की पद्धति खोज निकाली। मार्गान्तरण के लिए ऊर्ध्वीकरण की साधना का विकास किया। उनका प्रयत्न रहा कि वीर्य वीर्याशय में कम जाए और ऊपर सहस्रार-चक्र में अधिक जाए। इस प्रक्रिया में वे सफल हुए। वीर्य को ऊर्ध्व में ले जाने में वे ऊर्ध्वरेता बन गए।

चाप पडने का कारण

वीर्याशय पर चाप पडने का एक कारण आहार है। ब्रह्मचर्य के लिए आहार का विवेक अत्यन्त आवश्यक है। अतिमात्र-आहार और प्रणीत-आहार दोनों वर्जनीय हैं। गरिष्ठ आहार नहीं पचता, इसलिए वह कब्ज करता है। मलावरोध होने से कुवासना जागती है और वीर्य का क्षय होता है। इसलिए पेट भारी रहे उतना मत खाओ और प्रणीत-आहार मत करो। संतुलित आहार करो, जिससे पेट साफ रहे। खाना जितना आवश्यक है उससे कहीं अधिक आवश्यक है मल-शुद्धि। मल के अवरोध से वायु बनती है। वायु जितनी अधिक बनेगी उतना ही अहित होगा। वायु-विकार से अधिक बचो। वीर्य का जब अधिक चाप होता है तब [illegible]

सन्देह उत्पन्न हो जाता है।

उत्तराध्ययन' में कहा गया है—'बंभचेरे संका वा कंखा वा विति गिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेयं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा।

शंका कांक्षा और विचिकित्सा उत्पन्न होती है भेद होता है उन्माद होता है दीर्घकालिक रोग और आतंक भी हो जाता है तथा केवलि प्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। ब्रह्मचर्य की साधना के लिए कुछेक साधनों की सूचना दी जाती है। उनका अभ्यास किया जाए तो वह निश्चित परिणाम लाएगा। इनमें पहला साधन वीर्य-स्तम्भ प्राणायाम है। इसका दूसरा नाम ऊर्ध्वाकर्षण प्राणायाम भी है। सिद्धासन में बैठकर पूर्ण रूप से रेचन करें। रेचन-काल में चिन्तन करें कि मेरा वीर्य रक्त के साथ मिलकर समूचे शरीर में व्याप्त हो रहा है। पूरक करें। जालंधर बंध और मूल बंध करें। पूरक काल में पेट को सिकोड़ें और फुलाएं। सिकोड़ने और फुलाने की क्रिया को पांच-सात पूरकों में सौ बार दोहराएं।

दूसरा ध्यान है। तीसरा अल्पकालीन कुम्भक है। चौथा प्रतिसंलीनता है।

इन्द्रियां चंचल होती हैं। पर वह उनकी स्वतंत्र प्रवृत्ति नहीं है। मन से प्रेरित होकर ही वे चंचल बनती हैं। मन जब स्थिर और शान्त होता है तब वे अपने-आप स्थिर और शान्त हो जाती हैं। मन अन्तर्मुखी बनता है, तब इन्द्रियां अन्तर्मुखी हो जाती हैं। महर्षि पतंजलि ने इसी आशय से लिखा है—स्वविषया सम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकारइवेन्द्रियाणां प्रत्याहार। अपने विषयों के असंप्रयोग में चित्त के स्वरूप का अनुकरण जैसा करना इन्द्रियों का प्रत्याहार कहलाता है। प्रत्याहार के स्थान पर जैन आगमों में प्रतिसंलीनता का उल्लेख है। औपपातिक सूत्र में इन्द्रिय प्रतिसंलीनता के पांच प्रकार बतलाए गए हैं।

इन्द्रिय प्रतिसंलीनता के दो रूप हैं—विषय प्रचार का निरोध और राग-द्वेष का निग्रह। आंखों से न देखें यह विषय प्रचार का निरोध है। विषय के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाए वहां राग-द्वेष न करना राग द्वेष निग्रह है। प्रतिसंलीनता का अर्थ है—अपने-आप में लीन होना।

इन्द्रिया सहजतया बाहर दौडती है, उन्हे अन्तर्मुखी बनाना प्रतिसंलीनता है। उसकी प्रक्रिया यह है—

कोई आकार सामने आए तो उसकी उपेक्षा कर भीतर मे देखा जाय, वैसे ही भीतर मे सुना जाय, सूघा जाय, स्वाद लिया जाय और स्पर्श किया जाय। प्रतिसंलीनता के लिए कुभक की आवश्यकता होती है। कुभक का अर्थ है—श्वास को भीतर या बाहर जहा का तहा रोक देना। प्राण, मन और बिन्दु (वीर्य) का परस्पर गहरा सम्बन्ध है।

प्राण पर विजय पाने से मन और बिन्दु स्वत वश मे हो जाते है।
मन पर विजय पाने से प्राण और बिन्दु स्वत वश मे हो जाते है।
बिन्दु पर विजय पाने से प्राण और मन स्वत वश मे हो जाते है।

तीनो मे से किसी एक को साधने से शेष दो स्वय सध जाते है। प्राण को स्थिर करने के लिए कुभक करना चाहिए। उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है—दाए नथुने से श्वास भरें। कुछ देर रोककर अन्त कुभक करे। फिर बाए नथुने से श्वास को बाहर निकाल दें। कुछ देर बाह्य कुभक करे। दूसरे क्रम मे पहले से विपरीत अर्थात् बाए नथुने से श्वास ले। अन्त कुभक कर, दाए नथुने से श्वास बाहर निकाल दें और बाह्य कुभक करें। इस प्रकार एक बार कुभक होता है। प्रतिदिन बारह-तेरह बार उसका अभ्यास करना चाहिए।

वीर्य की उत्पत्ति समान वायु से होती है। उसका स्थान नाभि है। इसलिए कुभक के साथ नाभि पर ध्यान करें। पूरक करते समय सकल्प करें कि वीर्य नाडियो द्वारा मस्तिष्क मे जा रहा है। सकल्प मे ऐसी दृढता लाए कि अपनी कल्पना के साथ वीर्य ऊपर चढता दिखाई देने लगे। चाप मे भी सहस्रार-चक्र पर ध्यान कर सकल्प करे कि नीचे खाली हो रहा है और ऊपर भर रहा है। वीर्य नीचे से ऊपर जा रहा है। ऐसा करने से वीर्य का चाप वीर्याशय पर नही पडेगा। फलत उसके चाप से होने वाली मानसिक उत्तेजना से सहज ही बचाव हो जाएगा। इस विषय मे यौन-शास्त्रियो के अभिमत भी माननीय है—विज्ञान-विशारद स्कॉट हाल का मत है—अण्ड और डिम्ब ग्रन्थियो के अन्त स्राव जब रक्त के साथ मिलकर शरीर के विभिन्न अगो मे प्रवाहित होते है

तो वे युवक और युवती के सर्वांगीण विकास मे जादू की तरह नवजीवन का प्रभाव छोडते है।

हेलेना राइट ने इसके लिए बडा उपयोगी मार्ग बतलाया है—आत्म विकास के लिए कोई एक समय अपना लेना चाहिए और एकाग्रचित्त से दिन मे कई बार यह सोचना चाहिए कि जननेन्द्रिय मे केन्द्रित प्राण-शक्ति सारे स्नायु मण्डल मे प्रवाहित होकर अग प्रत्यग को पुष्ट कर रही है। थोडे समय मे ही इस मानसिक सूचना से तन और मन नये चैतन्य स्फूर्त एव प्रफुल्ल हो उठगे।

इन साधनो के सिवाय शास्त्रो का अध्ययन मनन चिन्तन व्युत्सर्ग आदि साधन भी मन को एकाग्र करने मे सहायक होते हैं। मेरा विश्वास है कि ब्रह्मचर्य के लिए केवल मानसिक चिन्तन ही पर्याप्त नही है दैहिक प्रवृत्ति पर भी ध्यान देना आवश्यक है। भोजन-सम्बन्धी विवेक और मल शुद्धि का ज्ञान भी कम महत्त्व का नही है। यदि इनकी उपेक्षा की गई तो मानसिक चिन्तन अकेला पड जायेगा।

मानसिक पवित्रता प्रतिभा की सूक्ष्मता धैर्य और मानसिक विकास के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है। और उसकी सिद्धि के लिए उक्त साधनो का अभ्यास आवश्यक है।*

---

* १ २ ६६ को साधु-साध्वियों के प्रशिक्षण-कक्ष (साधना शिविर) में दिए गए प्रवचन से।

ब्रह्मचर्य का शरीर-शास्त्रीय अध्ययन

ग्रन्थियां

शरीर-शास्त्र के अनुसार शरीर में आठ ग्रन्थियां होती हैं

१ श्लैष्मिक या पीयूष (पिच्यूटरी)

२ कण्ठमणि (थाइरायड)

३ वृषण

४ मन किण्वी (पैनक्रिया)

५ एड्रीनल या मूत्राग्निल

६ पैराथाइरायड

७ तृतीय नेत्र (पीनियल बाडी)

८ यौवन लुप्त (थाइमस)

पीयूष ग्रन्थि

यह ग्रन्थि दिमाग के नीचे होती है। यह थाइरायड, पैराथाइरायड, एड्रीनल, पैनक्रिया व वृषण कोषों के स्रावों को नियन्त्रित करती है। इस ग्रन्थि के रसों का कार्य इस प्रकार है

प्रथम रस का कार्य—शरीर-विकास।

द्वितीय रस का कार्य—शरीर के जल तथा नमक का सन्तुलन।

तृतीय रस का कार्य—गुर्दे के कार्य का नियन्त्रण।

पीयूष ग्रन्थि काम कम करे तो काम-शक्ति नष्ट हो जाती है।

कण्ठमणि ग्रन्थि

यह गर्दन में श्वास नली में जुड़ी हुई होती है। इसका आकार तितली के समान होता है। इसका रस-स्राव अधिक होने पर शरीर को अधिक पोषण की जरूरत होती है। क्षुधा बढ़ जाती है। किन्तु अन्य अंग साथ नहीं देते इसलिए वह कभी पूरी नहीं होती। ऐसी स्थिति में दुर्बलता आ जाती

है। इस ग्रन्थि से रस कम निकले तो बुढापा आ जाता है। सर्दी अधिक लगती है भूख कम हो जाती है शिथिलता और उदासी रहती है।

वृषण ग्रन्थि

यह पुरुष के ही होती है। यह अण्डकोषो मे होती है। इसके रस-स्राव से पौरुष जागता है और दाढी मूछें आती हैं।

पनिक्रिया ग्रन्थि

यह दो आंतो के बीच मे होती है।

एड्रीनल या सुप्रारीनल ग्रन्थि

ये दोनो ग्रन्थिया गुर्दे के ऊपरी हिस्से मे होती हैं। इनके स्राव शरीर के लिए बहुत आवश्यक होते है। इनसे साहस मिलता है। ये स्राव यकृत की चीनी को रक्त के द्वारा मासपेशियो मे ले जाते है। यह मासपेशियो को जूझने की शक्ति देती है।

पैराथाइरायड ग्रन्थि

कण्ठमणि के पास गेहू के दाने के बराबर चार ग्रन्थिया होती है। इन्हें पैराथाइरायड कहा जाता है। ये रक्त मे कैलसियम फासफोरस आदि का उचित संतुलन बनाए रखती हैं।

तृतीय नेत्र ग्रन्थि

यह मस्तिष्क मे होती है।

यौवन लुप्त ग्रन्थि

यह सीने मे होती है।

इनका कार्य अज्ञात है। प्रस्तुत विषय का सम्बन्ध वृषण-ग्रन्थियो से है।

वीर्य की उत्पत्ति और धाराएं

वृषण ग्रन्थिया दो स्राव उत्पन्न करती है—बहि स्राव और अन्त स्राव। धमनियो द्वारा वृषण-ग्रन्थियों मे रस रक्त आता है। उसे प्राप्त कर दोनो स्रावो के उत्पादक अवयव अपने-अपने स्राव को उत्पन्न करते हैं।

वीर्य अण्डकोष में उत्पन्न होता है। उसकी दो धाराएं है। एक वीर्याशय—जो मूत्राशय और मलाशय के मध्य मे है—मे जाती है। दूसरी रक्त के साथ मिलकर शरीर मे दीप्ति मस्तिष्क मे शक्ति उत्साह आदि पैदा करती है। वीर्याशय भरा रहे तो दूसरी धारा रक्त में अधिक

है। यह स्थिति शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के स्वास्थ्य के लिए बहुत लाभप्रद है। वीर्यनाश करने वाला इतना [illegible] और पत्नी आदि में उतना चला जाता है कि दूसरों का [illegible] मित्र भी नहीं [illegible] पाता। फलत दोनों प्रकार के स्वास्थ्य को हानि पहुंचती है। वीर्यनाश न हो, इसका ध्यान रखना स्वास्थ्य का प्रथम प्रश्न है।

वीर्य और ओज

जीवन के दस स्थान हैं

१ मूर्धा ६ बस्ति
२ कण्ठ ७ ओज
३ हृदय ८ शुक्र
४ नाभि ९ शोणित
५ गुदा १० मांस

ये दस स्थान दूसरे प्रकार से भी मिलते हैं

१–२ दो शंख—कनपटियां। ३–४–५ तीन मर्म—हृदय, बस्ति और सिर। ६ कण्ठ। ७ रक्त। ८ शुक्र। ९ ओज। १० गुदा।

ओज इन दोनों प्रकारों में है। वह वीर्य (धातु) का अन्तिम सार नहीं है, किन्तु मानो धातुओं (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र) का अन्तिम सार है। उसका केन्द्र-स्थान हृदय है, फिर भी वह व्यापी है।[1]

इससे दो बातें निष्पन्न होती हैं

१ ओज का सम्बन्ध केवल वीर्य से नहीं है।
२ वीर्य का स्थान अण्डकोष है, जबकि ओज का स्थान हृदय है।

ओज और वीर्य में तीसरा अन्तर यह है कि वीर्य का मध्यम परिमाण ही लाभप्रद होता है। वह हीन-मात्रा में हो तो क्षीणता आदि दोष बढ़ते हैं। वह अति-मात्रा में हो तो उससे मैथुन की प्रबल इच्छा और शुक्राश्मरी

---

१ ओजस्तु तेजो धातूनां, शुक्रान्तानां परं स्मृतम्।
हृदयस्थमपि व्यापि, देहस्थिति निबन्धनम्॥ —सुश्रुत ११।३७॥

(शुक्रजनित पथरी) रोग उत्पन्न होता है।[1]

ओज जितना बढ़ उतना ही लाभप्रद है। उसकी वृद्धि से मन की तुष्टि शरीर की पुष्टि और बल का उदय होता है।[2]

वीर्य-व्यय के मार्ग

वीर्य-व्यय के दो मार्ग है—जननेन्द्रिय और मस्तिष्क। भोगी तथा रोगी व्यक्ति के काम-वासना की उद्दीप्ति तथा वायु विकार आदि शारीरिक रोग होने पर वीर्य का व्यय जननेन्द्रिय से होता है।

योगी लोग वीर्य का प्रवाह ऊपर की ओर मोड़ देते हैं। अत उनके वीर्य का व्यय मस्तिष्क मे होता है। वीर्य का प्रवाह नीचे की ओर अधिक होने से काम-वासना बढ़ती है और उसका प्रवाह ऊपर की ओर होने से काम वासना घटती है।

अब्रह्मचर्य का प्रभाव

काम-वासना के कारण जननेन्द्रिय द्वारा जो वीर्य व्यय होता है वह अब्रह्मचर्य का ही एक प्रकार है। वह सीमित होता है तो उसका शरीर पर अधिक हानिकर प्रभाव नही होता। मन मे मोह और संस्कारो मे अशुद्धि उत्पन्न होती है, वैसे आध्यात्मिक दृष्टि से हानि ही कहा जाएगा।

जो आदमी अब्रह्मचर्य मे अति आसक्त होता है, उसकी वृषण-ग्रन्थियो मे आने वाले रस रक्त का उपयोग बहिःस्राव उत्पन्न करने वाले अवयव कर लेते है। इसका फल यह होता है कि अन्त स्राव उत्पन्न करने वाले अवयव उचित सामग्री के अभाव मे अपना काम करने मे अक्षम रह जाते है। फलत सर्वधातुओ और सर्वांग पर होने वाले अन्त स्राव के महत्त्वपूर्ण प्रभावो से वह वंचित रह जाता है और अनेक प्रकार के विकार उसके शरीर मे उत्पन्न होते है।

आयुर्वेद के ग्रन्थो मे इस विषय को एक उदाहरण के द्वारा समझाया गया है। सात क्यारियो मे सातवी क्यारी मे बड़ा गर्त हो किंवा उसमें से जल के निकलने के लिए छेद हो तो सीधी-सी बात है कि पहले सम्पूर्ण जल

---

१ अतिस्त्रीकामतां वा शुक्राश्मरीमपि। —सुश्रुत ११।१२॥
२ ओजो वृद्धौ हि देहस्य तुष्टिपुष्टिबलोदयः॥ —अष्टांग ११।४१॥

का निषेध क्यों किया गया ?

ब्रह्मचर्य के उपाय

अब्रह्मचर्य एक आवेग है। हर आवेग पर मनुष्य अपनी नियंत्रण-शक्ति से विजय पाता है। मन की नियंत्रण-शक्ति का विकास ब्रह्मचर्य का प्रमुख उपाय है। पर यह प्रथम उपाय नहीं है। प्रथम है ब्रह्मचर्य के प्रति गाढ़ श्रद्धा होना। दूसरा है वीर्य या रक्त के प्रवाह को मोड़ने की साधना। इससे ब्रह्मचर्य जितना सहज हो सकता है उतना नियंत्रण-शक्ति से नहीं।

काम-वासना मस्तिष्क के पिछले भाग में प्रारम्भ होती है, इसलिए जैसे ही वह उभरे वैसे ही उस स्थान में मन को एकाग्र कर कोई शुभ संकल्प किया जाए जिससे वह उभार शान्त हो जाए।

पेट में मल, मूत्र और वायु का दबाव बढ़ने से काम-वाहिनी नाड़ियां उत्तेजित होती हैं। खान-पान और मल-शुद्धि में सजग रहना ब्रह्मचर्य की बहुत बड़ी बात है। वायु विकार न बढ़े इस ओर ध्यान देना भी बहुत ही आवश्यक है।

काम-जनक अवयवों के स्पर्श से भी वासना बहुत अपेक्षित है। इन सारी बातों का ब्रह्मचर्य के परिपालन में बहुत महत्त्व है पर इन सबसे जिसका अधिक महत्त्व है वह है वीर्य या रक्त प्रवाह को मोड़ने की प्रक्रिया। उसकी कुछ विधियां इस प्रकार हैं

ऊर्ध्वीकरण

(क) सिद्धासन में बैठें। श्वास का रेचन करें—बाहर निकालें। बाह्य कुम्भक करें—श्वास को बाहर रोके हुए रहें। इस स्थिति में संकल्प करें—वीर्य रक्त के साथ मिलकर समूचे शरीर में घूम रहा है। वीर्य का प्रवाह ऊपर की ओर हो रहा है।

संकल्प इतनी तन्मयता से करें कि वैसा प्रत्यक्ष अनुभव होने लगे। जितनी देर सुविधा से कर सकें यह संकल्प करें फिर पूरक करें—श्वास को अन्दर भरें। पूरक की स्थिति में मूल बन्ध करें—गुदा को ऊपर की ओर खींचे तथा जालन्धर बन्ध करें—ठुड्डी को तानकर कण्ठ-कूप में लगाएं। फिर पेट को सिकोड़ें और फुलाएं। आराम से जितनी बार ऐसा कर सकें कर, फिर रेचन करें। यह एक क्रिया हुई। इसे अभ्यास बढ़ाते-बढ़ाते सात

वासना विजय

आज का चिन्त्य विषय है—वासना विजय। उसके दो पहलू हैं १ वासना क्या है ? २ उस पर विजय कैसे पा सकते हैं ? एक व्यक्ति दरवाजे से प्रवेश करता है। उसके चरण धूलि पर टिकते हैं। व्यक्ति चला जाता है। उसके चले जाने पर भी चरण चिह्न रह जाते हैं। वह वासना है। चित्रपट में फीते पर अनेक आकृतियां अंकित होती हैं। वह अंकन वासना है।

यह अमिट सिद्धान्त है कि क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। हमारा मन मार्ग धूलि है जो विचार पथिक आते हैं वे अपने चरण चिह्न छोड़ जाते हैं। हमारा मन फीता है जो विचार आते हैं वे उस पर अपनी आकृतियां अंकित कर जाते हैं। यही वासना है। जो अनुभूत विषय की विस्मृति है वह वासना है। उसे भावना और संस्कार भी कहते हैं। सामान्यतः वासना का अर्थ बुरा ही समझा जाता है किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। वह अच्छी भी होती है और बुरी भी। अच्छे विचारों की वासना अच्छी और बुरे विचारों की वासना बुरी होती है।

हम वासना-मुक्त होना चाहते हैं। हमारा अन्तिम लक्ष्य वासना विजय नहीं वासना मुक्ति है। प्रथम भूमिका में वासना विजय करना प्राप्त है। उसका एक निश्चित क्रम है। पहले हम बुरी वासनाओं को जीतें फिर उनको जो अच्छी हैं। हम साधु हैं। साधुत्व का अर्थ है—वासना पर विजय पाना। वासना विजय की साधना का पहला चरण संकल्प है। संकल्प जब दृढ़ होता है तब दबी हुई वासनाएं एक साथ उभरती हैं। संकल्प से पूर्व वे उतनी नहीं उभरती जितनी संकल्प के समय उभरती हैं। कहा जाता है कि सकत बाक के नीचे धन का निधान होता है। कोई उसे निकालने का यत्न करता है तो सांप फुफकारने लग जाता है। निकालने

वाला प्रबल होता है तो सांप को जीत लेता है और दुर्बल होता है तो सांप उसे मार डालता है। यही बात वासना को जीतने के समय होती है। यदि तुम उसे कुरेदने का प्रयत्न करोगे तो वह उभरेगी। उसे नहीं छेड़ोगे तो वह फुफकार नहीं मारेगी। उसे छोड़ने वाले को कुशल गुरु का मार्गदर्शन प्राप्त होना चाहिए। साधक का गुरु कुशल होता है तो वह उभार को संभाल लेता है, अन्यथा साधक घबरा जाता है। वासना-विजय की अनेक प्रक्रियाएं हैं, उनमें कुछ ये हैं

इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता

तप के बारह भेदों में यह एक है। इसकी प्रक्रिया आज विस्मृत है। औपपातिक सूत्र में प्रतिसंलीनता के चार प्रकार निर्दिष्ट हैं— इन्द्रिय प्रतिसंलीनता, योग प्रतिसंलीनता, कषाय प्रतिसंलीनता, विविक्त शयनासन प्रतिसंलीनता।

मुनि के लिए दांत विशेषण आता है। दांत का अर्थ है— जिसने दमन किया हो। दमन का अर्थ दण्ड नहीं है, जैसा कि आज समझा जा रहा है। उसका अर्थ वही है, जो प्रतिसंलीनता का है। शंकराचार्य ने लिखा है— इन्द्रियों को विषय से हटाकर अपने-अपने गोलक में स्थापित करना दम है।

वायु विजय

मन मे सकल्प विकल्प उठते है ये क्या है ? सभी ये वासनाए ही तो है। व्यक्ति के मस्तिष्क मे करोडो सेल (कोष) होते है। एक-एक सेल को विस्तार दिया जाए तो भारतवर्ष जितना भूभाग भर सकता है। एक एक कोष मे अनेक वासनाए स्थित होती है। कल्पना करिए उनका कितना बडा जाल है। यह तो स्थूल शरीर की बात है। सूक्ष्म शरीर में न जाने और कितनी वासनाए दबी पडी हैं। एक-एक कर इन सबको मिटाने का प्रयत्न सफल हो सके यह सम्भव नही। इसी बात को ध्यान मे रखकर योगाचार्यों ने कहा—वायु पर विजय प्राप्त करो वासनाए अपने-आप शान्त और क्रमश क्षीण हो जाएगी। वायु पाच प्रकार की होती है—प्राण अपान उदान समान और व्यान। इनमे व्यान वायु के साथ मन का योग होने से सकल्प विकल्प पैदा होते है। व्यान वायु पर विजय पाने अर्थात् उसके साथ मन का योग न होने देने से सकल्प विकल्प अपने-आप शान्त हो जाते है। कण्ठ देश वाली विशुद्धि चक्र पर सयम करने से वायु विजय होता है। सकल्प विकल्प शान्त होते है।

सुषुम्ना में श्वास

शरीर मे तीन नाडिया प्रमुख है—इडा पिंगला और सुषुम्ना। हमारा श्वास जब इडा और पिंगला मे बहता है तब मन की चचलता होती है। जब श्वास को सुषुम्ना मे स्थापित कर दिया जाता है तब वह चचलता मिट जाती है और उससे वासनाएं क्षीण होती है।

जीभ

सबसे सुगम और सुन्दर उपाय है जीभ के अग्र भाग को शून्य मे रखना। होठो को दृढता से बद करने के बाद जीभ को अधर मे रखें—ऊपर-नीचे दाए-बाए स्पर्श न करें।*

---

* ११ जनवरी १९९२ को साधु-साध्वियों के प्रशिक्षण-कक्ष (साधना-शिविर) में दिए गए भाषण से।

विभूषा

व्यवहार की भूमिका में जीवन की आवश्यकता और विभूषा के बीच रेखा खींचना कठिन है। पर आचार्यों ने एक रेखा खींची है। वह है देहाध्यास। उसके इस पार आवश्यकता विभूषा से मुक्त नहीं होती और उस पार शुद्ध आवश्यकता शेष रहती है। उदाहरण की भाषा में इस प्रकार समझिए कि व्यक्ति में देहाध्यास होता है तो साधारण वस्त्र ओढ़ने में भी विभूषा का भाव जाग आता है। देहाध्यास न हो तो मूल्यवान वस्त्र ओढ़ लेने पर भी विभूषा की भावना नहीं जागती।

मनुष्य के पास प्रवृत्ति के लिए देह, वाणी और मन तीन साधन हैं। उनमें पहला देह है। प्रश्न यह है कि हम देह में रहते हैं या आत्मा में। जब आत्मा में रहते हैं तब देहाध्यास क्षीण होता चला जाता है। विभूषा का भाव अपने-आप विसर्जित होता चला जाता है। देह में रहते हैं तब ममत्व बढ़ जाता है और विभूषा का भाव प्रबल हो उठता है। देहधारी प्राणी दो धाराओं के बीच जी रहे हैं। एक बाहर की है और दूसरी भीतर की। बाहर की धारा में कौतुक है, इन्द्रजाल है और भीतर की धारा में ज्योति है। जो अबुद्ध हैं वे कौतुक की ओर भाग रहे हैं और जो प्रबुद्ध हैं वे ज्योति की ओर जा रहे हैं। कहा भी है—

> बहिस्तुष्यति मूढात्मा, पिहित ज्योति रन्तरे।
> तुष्यत्यन्त प्रबुद्धात्मा, बहि र्व्यावृत्तकौतुक ॥

हम साधु हैं। इसलिए हमारी गति ज्योति की ओर होनी चाहिए। यह होगी तो बाहरी आकर्षण अपने-आप क्षीण हो जाएगा।

साधु को बाहर के प्रति युक्त नहीं होना चाहिए। किन्तु देह के रहते हुए वह बाहरी द्रव्यों से सर्वथा मुक्त भी नहीं होता। भले न हो, युक्त नहीं होता है तब उसकी आवश्यकता के उपकरण (वस्त्र, पात्र आदि) धर्मोप-करण हो जाते हैं। वे धर्मोपकरण इसलिए हो जाते हैं कि उनके प्रति उसका

वायु विजय

मन मे सकल्प विकल्प उठते हैं ये क्या हैं ? दबी हुई वासनाएं ही तो है। व्यक्ति के मस्तिष्क म करोडो सेल (कोष) होते है। एक-एक सेल को विस्तार दिया जाए तो भारतवर्ष जितना भूभाग भर सकता है। एक एक कोष मे अनेक वासनाए स्थित होती है। कल्पना करिए, उनका कितना बडा जाल है। यह तो स्थूल शरीर की बात है। सूक्ष्म शरीर मे न जाने और कितनी वासनाए दबी पडी हैं। एक-एक कर इन सबको मिटाने का प्रयत्न सफल हो सके यह सम्भव नही। इसी बात को ध्यान म रखकर योगाचार्यों ने कहा—वायु पर विजय प्राप्त करो वासनाए अपने-आप शान्त और क्रमश क्षीण हो जाएगी। वायु पाच प्रकार की होती है—प्राण अपान उदान समान और व्यान। इनमे व्यान वायु के साथ मन का योग होने से सकल्प विकल्प पैदा होते हैं। व्यान वायु पर विजय पाने अर्थात् उसके साथ मन का योग न होने देने से सकल्प विकल्प अपने-आप शान्त हो जाते है। कण्ठ देश यानी विशुद्धि चक्र पर सयम करने से वायु विजय होता है। सकल्प विकल्प शान्त होते हैं।

सुषुम्णा में श्वास

शरीर मे तीन नाडियां प्रमुख हैं—इडा पिंगला और सुषुम्णा। हमारा श्वास जब इडा और पिंगला मे बहता है तब मन की चचलता होती है। जब श्वास को सुषुम्णा मे स्थापित कर दिया जाता है तब वह चचलता मिट जाती है और उससे वासनाएं क्षीण होती है।

जीभ

सबसे सुगम और सुन्दर उपाय है जीभ के अग्र भाग को शून्य मे रखना। होठो को दृढता से बद करने के बाद जीभ को अधर मे रखे—ऊपर-नीचे दाए-बाए स्पर्श न करें।*

---

* ३१ जनवरी १९९२ को साधु-साध्वियों के प्रशिक्षण-कक्ष (साधना शिविर) में दिए गए भाषण से।

विभूषा

व्यवहार की भूमिका मे जीवन की आवश्यकता और विभूषा के बीच रेखा खींचना कठिन है। पर आचार्यों ने एक रेखा खींची है। वह है देहाध्यास। उसके इस पार आवश्यकता विभूषा से मुक्त नही होती और उस पार शुद्ध आवश्यकता शेष रहती है। उदाहरण की भाषा मे इस प्रकार समझिए कि व्यक्ति मे देहाध्यास होता है तो साधारण वस्त्र ओढने में भी विभूषा का भाव जाग जाता है। देहाध्यास न हो तो मूल्यवान वस्त्र ओढ लेने पर भी विभूषा की भावना नही जागती।

मनुष्य के पास प्रवृत्ति के लिए देह, वाणी और मन तीन साधन हैं। उनमे पहला देह है। प्रश्न यह है कि हम देह मे रहते हैं या आत्मा मे। जब आत्मा मे रहते है तब देहाध्यास क्षीण होता चला जाता है। विभूषा का भाव अपने-आप विसर्जित होता चला जाता है। देह मे रहते हैं तब ममत्व बढ जाता है और विभूषा का भाव प्रबल हो उठता है। देहधारी प्राणी दो धाराओं के बीच जी रहे है। एक बाहर की है और दूसरी भीतर की। बाहर की धारा मे कौतुक है, इन्द्रजाल है और भीतर की धारा मे ज्योति है। जो अबुद्ध है वे कौतुक की ओर भाग रहे है और जो प्रबुद्ध हैं वे ज्योति की ओर जा रहे हैं। कहा भी है—

बहिस्तुष्यति मूढात्मा, पिहित ज्योति रन्तरे।
तुष्यत्यन्त प्रबुद्धात्मा, बहि र्व्यावृत्तकोतुक ॥

हम साधु है। इसलिए हमारी गति ज्योति की ओर होनी चाहिए। वह होगी तो बाहरी आकर्षण अपने-आप क्षीण हो जाएगा।

साधु को बाहर के प्रति युक्त नही होना चाहिए। किन्तु देह के रहते हुए वह बाहरी द्रव्यों मे सर्वथा मुक्त भी नही होता। भले न हो, युक्त नही होता है तब उसकी आवश्यकता के उपकरण (वस्त्र, पात्र आदि) धर्मोपकरण हो जाते है। वे धर्मोपकरण इसलिए हो जाते हैं कि उनके प्रति उसका

अभ्यास नहीं होता। देह के प्रति आसक्ति जितनी तीव्र होगी बाह्य वस्तुओं पर उसका उतना ही अधिक असर होगा। देहाध्यास नहीं होगा तो बाहरी चीजों को सजाने-संवारने की वृत्ति क्यों जागेगी? वह विभूषा क्यों करेगा?

> नगिणस्स वावि मुंडस्स दीहरोमनहंसिणो।
> मेहुणा उवसंतस्स किं विभूसाए कारियं?॥

"व्युत्सर्ग और विवेक का बार-बार अभ्यास किया जाय तो देहाध्यास सहज ही छूट जाता है। विवेक सम्बन्ध विच्छेद की प्रक्रिया है। जो बाह्य है वह मेरा नहीं है। यह शरीर भी मेरा नहीं है। इस प्रकार सब पदार्थों से अपनी आत्मा को पृथक् करना विवेक है। विवेक की भावना स्थिर होने पर व्युत्सर्ग सहज निष्पन्न हो जाता है। देह के प्रति ममत्व और लगाव दोनों ध्वस्त हो जाते है। पूज्यपाद ने कहा है—

> योजयेत् मनसात्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत्।
> मनसाव्यवहारं तु त्यजेद् वाक्काययोजितम्॥

शरीर वाणी मन और आत्मा ये चार हैं। इनमें आत्मा के सबसे निकट मन है। उसके बाद वाणी और शरीर है। इसलिए साधक मन के साथ आत्मा का योग करे और वाणी तथा देह से उसे वियुक्त करे। वाणी और देह के द्वारा आयोजित व्यवहार मन से भी न करे। देह और वाणी का व्यवहार जितना कम होगा उतना ही मन शान्त होगा। शान्त मन में कोई भ्रान्ति उत्पन्न नहीं होती।

हम सब साधु हैं—साधना करते वाले हैं। सिद्ध नहीं हैं। जो कोई साधु होता है वह साधना का भाव लेकर आता है सिद्ध होकर नहीं आता किन्तु सिद्ध होने के लिए आता है। हम नहीं मान सकते कि साधु होते ही हमारी सारी ममता क्षीण हो जाती है। साधना के प्रति जागरूकता रहे तो वह क्षीण हो सकती है और एक दिन हो ही जाती है। विवेक और व्युत्सर्ग पर इसलिए अधिक बल दिया गया कि उनसे साधना शक्तिशाली बने।

प्राचीन ग्रन्थों में मुनि के लिए दिन में दसों बार व्युत्सर्ग करने का विधान मिलता है। वह सोने से पहले व्युत्सर्ग करे और उठने के बाद फिर

आत्म-दमन

भारतीय दर्शन आत्म-दमन पर विशेष बल देते रहे हैं। आज के मनोविज्ञान से प्रभावित मानव को यह अप्रिय लगता है। मैं औरों की बात क्या कहूँ। मैं अपने मन की बात आपको बताऊं। मैंने जब-जब 'उत्तराध्ययन' के निम्न दो श्लोक पढ़े तब-तब मेरा मन आहत-सा हुआ। वे श्लोक ये हैं:

अप्पा चेव दमेयव्वो अप्पाहु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ अस्सिं लोए परत्थ य। १।१५।
वरं मे अप्पा दन्तो संजमेण तवेण य।
माहं परेहि दम्मतो बन्धणेहि वहेहि य। १।१६।

आत्मा का ही दमन करना चाहिए। क्योंकि आत्मा ही दुर्दम है। दमित-आत्मा ही इहलोक और परलोक में सुखी होती है।

अच्छा यही है कि मैं संयम और तप के द्वारा अपनी आत्मा का दमन करूँ। दूसरे लोग बन्धन और वध के द्वारा मेरा दमन करें—यह अच्छा नहीं है।

मेरे साथी और भी बहुत होंगे? दमन शब्द मेरी तरह उनके मन को भी आहत करता होगा? आचार्य रजनीशजी का मन भी इसी शब्द से आहत हुआ है। उन्होंने लिखा है—एक प्रवचन कल सुना है। उसका सार था आत्म-दमन। प्रचलित रूढ़ि यही है। सोचा जाता है कि सबसे प्रेम करना है पर अपने से—अपने से घृणा करनी है, स्वयं अपने से शत्रुता करनी है, तब कहीं आत्म-जय होती है। पर यह विचार जितना प्रचलित है, उतना ही गलत भी है। इस मार्ग से व्यक्तित्व द्वन्द्व में टूट जाता है और आत्म हिंसा की शुरुआत होती है और हिंसा सब कुरूप कर देती है।

मनुष्य को वासनाएं इस तरह दमन नहीं करनी हैं, न की जा सकती हैं। यह हिंसा का मार्ग अभय का मार्ग नहीं है। इसके परिणाम में ही शरीर को सताने के कितने रूप विकसित हो गए हैं। उनमें दीखती है तपश्चर्या

पर है वस्तुतः हिंसा का रस-दमन और प्रतिरोध का सुख। यह तप नहीं, आत्मवचना है।

आज दमन का अर्थ बदल गया है। इसलिए यह प्रयोग चुभता-सा लगता है। किन्तु इसका मूल अर्थ मनोविज्ञान के प्रतिकूल नहीं है। दमन शब्द दम धातु मे निष्पन्न हुआ है। उसका अर्थ है—उपशम—शमु-दमु उपशमे। शान्त्याचार्य ने आत्म-दमन का अर्थ किया है—आत्मिक-उपशमन।

महाभारत (आपद्धर्म पर्व, अध्याय १६०) मे दमन की बहुत सुन्दर परिभाषा मिलती है। वहाँ लिखा है

> क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम्।
> इन्द्रियाभिजयो दाक्ष्यं च मार्दवं ह्रीरचापलम्॥१५॥
> अकार्पण्यमसरम्भः सन्तोषः प्रियवादिता।
> अविहिंसानसूया चाप्येषा समुदयो दमः॥१६॥

क्षमा, धीरता, अहिंसा, समता, सत्यवादिता, सरलता, इन्द्रिय-विजय, दक्षता, कोमलता, लज्जा, स्थिरता, उदारता, क्रोध-हीनता, सन्तोष, प्रिय वचन बोलने का स्वभाव, किसी भी प्राणी को कष्ट न देना और दूसरो के दोष न देखना—इन सद्‌गुणो का उदय होना ही दम है।

दान्त का अर्थ है, उपशान्त। जो उपशान्त होता है, वह निम्न दोषो से अपना बचाव करता है। महाभारत (आपद्धर्म पर्व, अध्याय १६०) मे लिखा है

> गुरुपूजा च कौरव्य दया भूतेष्व पैशुनम्।
> जनवादं मृषावादं स्तुति निन्दा विसर्जनम्॥१७॥
> कामं क्रोधं च लोभं च दर्पं स्तम्भं विकत्थनम्।
> रोषमीर्ष्यावमानं च नैव दान्तो निषेवते॥१८॥

कुरुनन्दन! जिसने मन और इन्द्रियो का दमन कर लिया है, उसमे गुरुजनो के प्रति आदर का भाव, समस्त प्राणियो के प्रति दया और किसी की भी चुगली न खाने की प्रवृत्ति होती है। वह जनापवाद, असत्य भाषण, निन्दा-स्तुति की प्रवृत्ति, काम, क्रोध, लोभ, दर्प, जडता, डीग हाकना, रोष, ईर्ष्या और दूसरो का अपमान—इन दुर्गुणो का कभी सेवन नही करता।

दमन की परिभाषा शंकराचार्य ने बहुत ही मूलस्पर्शी की है। उनके मतानुसार

> विषयेभ्यः परावर्त्य स्थापनं स्वस्वगोलके।
> उभयेषामिन्द्रियाणां स दमः परिकीर्तितः॥

इसका अर्थ है इन्द्रियों को विषयों से हटाकर अपने-अपने गोलक में स्थापित कर देना दम है।

मैं अनुभव करता हूं कि दमन का मूल अर्थ समझने के पश्चात् अब मेरा मन आत्म-दमन का प्रयोग सुनकर आहत नहीं होता है। आत्म-दमन की प्रक्रिया मनोविज्ञान के प्रतिकूल है—इस मान्यता में भी मैंने संशोधन कर लिया है।

अकाल-मृत्यु

उत्पन्न की मृत्यु और मृत की उत्पत्ति—यह चक्र है। इसी चक्र का नाम संसार है। संसार में ऐसा कोई प्राणी नहीं जिसकी उत्पत्ति है और मृति नहीं है। मृत्यु होती है,यह मीमांसनीय नहीं है। मीमांसनीय यह है कि वह कब होती है—अवधि पूरी होने पर या उससे पूर्व? जिस राष्ट्र के नागरिक काल-मृत्यु से मरते है, वह राष्ट्र सुसंस्कृत, स्वस्थ और शान्ति-प्रिय होता है। जो राष्ट्र ऐसा नहीं होता, उसके नागरिक अकाल-मृत्यु से मरते है। अकाल-मृत्यु व्यक्ति या राष्ट्र की अशान्ति और अस्वस्थता की सूचक है। स्थानांग में अकाल-मृत्यु के सात हेतु बतलाए गए है। उनमें भी यही फलित होता है। अकाल-मृत्यु के सात हेतु

१ अध्यवसान—राग, स्नेह, भय, घृणा आदि।
२ निमित्त—शस्त्र आदि।
३ आहार—असंतुलित या अधिक।
४ वेदना—रोग।
५ पराघात—चोट आदि।
६ स्पर्श—सर्प-दंश आदि।
७ आनापान—उच्छ्वास-नि श्वास का निरोध।

इनमें दूसरा हेतु मानसिक स्वस्थता से सम्बन्धित है। शस्त्र का प्रयोग असंतुलित मस्तिष्क और मनवाला व्यक्ति करता है। जिस प्रदेश के निवासी संतुलित मन वाले होते है, वहाँ निमित्त-जनित अकाल-मृत्यु नही होती। जिस प्रदेश की चिकित्सा-पद्धति विकसित होती है, वहा वेदना, पराघात, स्पर्श और आनापान-जनित अकाल-मृत्यु का अनुपात बहुत कम हो जाता है। जो व्यक्ति खाद्य-संयम रखता है, वह आहार-जनित अकाल-मृत्यु से ग्रसित नहीं होता। निमित्त, वेदना आदि से अकाल-मृत्यु होती है, इसे प्राय सभी लोग जानते है। अधिक खाने से अकाल-मृत्यु होती है, इसे

कम लोग जानते है। अध्यवसान से अकाल-मृत्यु होती है इसे तो बहुत ही कम लोग जानते है। भय स्नेह, भय घृणा आदि भाव हर व्यक्ति म होते है। सामान्यत वे हर व्यक्ति के मन को प्रभावित करते रहते है। किन्तु जब वे तीव्र मात्रा म व्यक्ति को प्रभावित करने लगते है तब व्यक्ति अकाल मृत्यु की ओर चल पडता है और उससे तीव्रतर मात्रा म प्रभावित होने वाला व्यक्ति तत्काल काल-कवलित हो जाता है। शरीर और मन का गहरा सम्बन्ध है। शरीर की प्रक्रिया से मन और मन की प्रक्रिया से शरीर प्रभावित होता है। शरीर की अस्वस्थता मन को अस्वस्थ बनाती है और अस्वस्थ मन शरीर को अस्वस्थ बनाता है।

भय घृणा स्नेह आदि मानसिक आवेग तीव्रतर होते ही रक्त को प्रभावित करते है। उनकी प्रबल प्रक्रिया से मस्तिष्क के मूल भागवर्ती रक्ताभिसरण-केन्द्र और श्वसन-केन्द्र ठप्प हो जाते है। मासपेशियां सिकुड जाती है। हृदय पर एक साथ असह्य चाप पडने से उसकी कोशिकाए अवरुद्ध हो जाती है। मनुष्य मृत्यु का ग्रास बन जाता है।

मानसिक संतुलन से केवल आत्मिक प्रसन्नता ही प्राप्त नही होती दीर्घायु और दैहिक स्वस्थता भी प्राप्त होती है। मानसिक संतुलन का अथ है मानसिक भावो के उतार-चढावो का समीकरण। अनुकूल सयोगो मे मन हर्षातिरेक से भर जाता है और प्रतिकूल सयोगो में वह खिन्न हो उठता है। ये दोनो असतुलन की स्थितिया है। प्रिय और अप्रिय दोनो को सहने की क्षमता का विकास भावना और क्रियात्मक अभ्यास से हो सकता है।

कुछ लोग सोचते है—यह समभावी मनोवृत्ति योगियो के लिए आवश्यक है, हर व्यक्ति के लिए नही। किन्तु यह चिन्तन त्रुटिपूर्ण है। योगी की समता चरमकोटि की हो सकती है पर समभाव के सामान्य धरातल पर चले बिना कोई भी व्यक्ति शान्त और सुखी जीवन नही बिता सकता।

जीवन-परिवर्तन की नयी दिशा

साधना के प्रथम चरण में प्रत्यक्षतः तीन परिवर्तन देखने को मिलते हैं

१ वेशभूषा
२ भोजन
३ अनुशासन

वेशभूषा का परिवर्तन विशेषतः बहनों में हुआ है। वे परदे से मुक्त होकर सादे वेश में आ गई है। किन्तु इस साधना-शिविर से लौटकर जब वे जाती है, तब पुनः वेश परिवर्तन कर लेती हैं। उसके पीछे उनकी कमजोरी बोलती है। भय और दुर्बलता ही अनिष्ट के मूल हैं। अच्छाई का मूल अभय है, उसका विकास होना चाहिए और उसके साथ विवेक का विकास भी होना चाहिए। उसके अभाव में कहीं-कहीं अभय के नाम पर उच्छृंखलता पनप जाती है।

जो साधना के मार्ग पर चलता है उसके सामने अनेक कठिनाइयां उपस्थित होती हैं, किन्तु साधक को उनका दृढ़ता से सामना करना चाहिए, न डरकर अपने कर्तव्य-मार्ग से हटना चाहिए और न परिस्थिति के प्रति उद्दण्ड होना चाहिए।

भोजन-परिवर्तन भी महत्त्वपूर्ण है। आजकल खाने की पद्धति भी दूषित हो गई है। अधिक चीजें वे खायी जाती हैं जो अधिक-से-अधिक अनावश्यक हैं।

खाने का प्रत्यक्ष सम्बन्ध शरीर से है। मन पर भी उसका सीधा असर होता है। भोजन का विवेक अत्यन्त आवश्यक है। जो सात्विक भोजन करता है उसका मन सरल होता है, उसे क्रोध नहीं आता, उसका स्वभाव चिड़चिड़ा नहीं होता। दीया जलता है तब वह प्रकाश के साथ धुआँ भी [illegible] है। यह इसलिए कि जलते समय वह तिमिर को खाता है। जो जैसा

खाता है वह वैसा ही उगलता है। अपवित्र खाने से शरीर में बीमारी होती है और मानसिक शक्ति कुंठित हो जाती है। सारी शक्ति भोजन को पचाने में ही लग जाती है तब चिन्तन के लिए आवश्यकता ही नहीं रहती। सत्यदेव विद्यालंकार एक बार कह रहे थे—मैं जब भी अच्छी पुस्तक लिखता हूं भोजन हल्का करता हूं। हर व्यक्ति चाहता है उसकी शक्ति का उपयोग अच्छे कार्यों में हो। जिनका ध्यान केवल खाने में रहता है, वे अन्न के कीड़े होते हैं। उनमें अच्छा काम करने का उत्साह नहीं रहता। खाने का संयम तथा विवेक रखने वाले बीमारी में भी शरीर को अधिक क्षत विक्षत होने से बचा लेते हैं। कुछ लोग पूछते हैं कितना खाना चाहिए? इसका निश्चित परिमाण तो नहीं बताया जा सकता किन्तु शरीर-शास्त्रियों ने यह बतलाया है कि उतना ही खाना चाहिए जितना शरीर के लिए आवश्यक हो आवश्यकता से अधिक खाना आंतों पर अत्याचार करता है। अधिकांशतया जितना अन्याय समाज नहीं करता अपना अविवेक कर देता है। इसलिए भोजन में विवेक रखना अत्यन्त आवश्यक है। भोजन का संयम शारीरिक और धार्मिक दृष्टियों से लाभप्रद है।

आयुर्वेद के आचार्यों ने कहा है—यदि पथ्य भोजन चलता है तो औषधि की क्या आवश्यकता? यदि अपथ्य भोजन चलता है तो भी फिर औषधि की क्या आवश्यकता?

अनुशासन सबसे बड़ी समस्या बन गया है। युग का प्रवाह ही ऐसा है कि कोई किसी की आज्ञा मानना नहीं चाहता। छोटे बड़ों की तुलना नहीं चाहते तब वे क्यों आज्ञा करें कि वे छोटों से आज्ञा मनाएंगे।

साधना का अर्थ है—संतुलन का अभ्यास। प्रतिकूलता में पागल बन होना आपे से बाहर होना अनुकूलता में फूलकर कुप्पा बनना दोनों ही असंतुलन के परिणाम हैं। मनुष्य को हर स्थिति में संतुलित रहना चाहिए। अभ्यास के बिना संतुलित रहना कठिन होता है। किन्तु साधना का लक्ष्य होने के बाद कठिन भी सरल हो जाता है। खाना बोलना बैठना आदि सारे अनुशासन के अंग हैं। खाना प्रत्येक व्यक्ति खाता है पर खाने की कला कम लोग जानते हैं। जल्दी खाना बिना चबाकर खाना खाए हुए पर —ये सारे खाने के दोष हैं।

अधिक बोलना, जोर से बोलना, बिना प्रयोजन बोलना वाणी का असयम है। अधिक बातें करना या मन की भाप को न रोक सकना मानसिक दुर्बलता है।

पक्तिबद्ध न बैठना और एकासन में न बैठना—आसन की अव्यवस्था है।

अनुशासन से इन क्रियाओं की कला सीखने को मिलती है। प्रत्येक क्रिया के साथ कब, क्या, कैसे और क्यों लगाने से जो उत्तर हमें प्राप्त होता है, उससे क्रिया का विवेक मिलता है।

कुछ उदाहरण देखिए

भोजन कब करना चाहिए ? इसका सामान्य उत्तर यह है कि कम-से-कम तीन घंटे से पहले नहीं। अगर भूख न हो तो उस समय भी नहीं। आत्रेय ने अपनी एक लाख पद्य वाली सहिता का सार एक चरण में यही कहा—'जीर्णे भोजन मात्रेय'। अगला भोजन जीर्ण होने के बाद खाना चाहिए, पहले नहीं। शरीर-शास्त्रियों ने इस बारे में कहा है। जैसे—

क्या खाना चाहिए ?

जो शरीर के लिए आवश्यक हो।

कैसे खाना चाहिए ?

चबाकर।

कहा खाना चाहिए ?

शान्त वातावरण में। क्रोध-अवस्था में भोजन करने से रस की परिणति अच्छी नहीं होती।

कब बोलना चाहिए ?

जब बोलने की आवश्यकता हो और अनुकूल अवसर हो। दो व्यक्ति बातें करते हो, तब बीच में नहीं बोलना चाहिए। तनाव का वातावरण हो, तब नहीं बोलना चाहिए। स्थिति को समझकर और देखकर बोलना चाहिए।

क्या बोलना चाहिए ?

जो बोलना आवश्यक हो।

कैसे बोलना चाहिए ?

खाता है वह वैसा ही उगलता है। अधिक खाने से शरीर में बीमारी होती है और मानसिक शक्ति कठित हो जाती है। सारी शक्ति भोजन को पचाने में ही लग जाती है तब चिन्तन के लिए आवश्यकता ही नहीं रहती। सत्यदेव विद्यालंकार एक बार कह रहे थे—मैं जब भी अच्छी पुस्तक लिखता हूं भोजन हल्का करता हूं। हर व्यक्ति चाहता है, उसकी शक्ति का उपयोग अच्छे कार्यों में हो। जिनका ध्यान केवल खाने में रहता है वे अन्न के कीड़े होते हैं। उनमें अच्छा काम करने का उत्साह नहीं रहता। खाने का संयम तथा विवेक रखने वाले बीमारी में भी शरीर को अधिक क्षत विक्षत होने से बचा लेते हैं। कुछ लोग पूछते हैं कितना खाना चाहिए? इसका निश्चित परिमाण तो नहीं बताया जा सकता किन्तु शरीर-शास्त्रियों ने यह बतलाया है कि उतना ही खाना चाहिए जितना शरीर के लिए आवश्यक हो आवश्यकता से अधिक खाना आंतों पर अत्याचार करना है। अधिकांशतया जितना अनर्थ शत्रु नहीं करता अपना अविवेक कर देता है। इसलिए भोजन में विवेक रखना अत्यन्त आवश्यक है। भोजन का संयम शारीरिक और धार्मिक दृष्टियों से लाभप्रद है।

आयुर्वेद के आचार्यों ने कहा है—यदि पथ्य भोजन चलता है तो औषधि की क्या आवश्यकता? यदि अपथ्य भोजन चलता है तो भी फिर औषधि की क्या आवश्यकता?

अनुशासन सबसे बड़ी समस्या बन गया है। युग का प्रवाह ही ऐसा है कि कोई किसी की आज्ञा मानना नहीं चाहता। छोटे बड़ों की सुनना नहीं चाहते तब वे क्यों आशा करें कि वे छोटों से आज्ञा मनाएंगे।

साधना का अर्थ है—संतुलन का अभ्यास। प्रतिकूलता में पारा गर्म होना आपे से बाहर होना अनुकूलता में फूलकर कुप्पा बनना दोनों ही असंतुलन के परिणाम हैं। मनुष्य को हर स्थिति में संतुलित रहना चाहिए। अभ्यास के बिना संतुलित रहना कठिन होता है। किन्तु साधना का लक्ष्य होने के बाद कठिन भी सरल हो जाता है। खाना बोलना बैठना आदि सारे अनुशासन के अंग हैं। खाना प्रत्येक व्यक्ति खाता है पर खाने की कला कम लोग जानते हैं। जल्दी खाना बिना चबाकर खाना खाए हुए पर खाना—ये सारे खाने के दोष हैं।

अधिक बोलना, ज़ोर से बोलना, बिना प्रयोजन बोलना वाणी का असयम है। अधिक बातें करना या मन की भाप को न रोक सकना मानसिक दुर्बलता है।

पक्तिबद्ध न बैठना और एकासन से न बैठना—आसन की अव्यवस्था है।

अनुशासन से इन क्रियाओ की कला सीखने को मिलती है। प्रत्येक क्रिया के साथ कब, क्या, कैसे और क्यो लगाने से जो उत्तर हमे प्राप्त होता है, उससे क्रिया का विवेक मिलता है।

कुछ उदाहरण देखिए

भोजन कब करना चाहिए ? इसका सामान्य उत्तर यह है कि कम-से-कम तीन घटे से पहले नही। अगर भूख न हो तो उस समय भी नही। आत्रेय ने अपनी एक लाख पद्य वाली सहिता का सार एक चरण मे यही कहा—'जीर्णे भोजन मात्रेय'। अगला भोजन जीर्ण होने के बाद खाना चाहिए, पहले नही। शरीर-शास्त्रियो ने इस बारे मे कहा है। जैसे—

क्या खाना चाहिए ?

जो शरीर के लिए आवश्यक हो।

कैसे खाना चाहिए ?

चबाकर।

कहा खाना चाहिए ?

शान्त वातावरण मे। क्रोध-अवस्था मे भोजन करने से रस की परिणति अच्छी नही होती।

कब बोलना चाहिए ?

जब बोलने की आवश्यकता हो और अनुकूल अवसर हो। दो व्यक्ति बातें करते हो, तब बीच मे नही बोलना चाहिए। तनाव का वातावरण हो, तब नही बोलना चाहिए। स्थिति को समझकर और देखकर बोलना चाहिए।

क्या बोलना चाहिए ?

जो बोलना आवश्यक हो।

कैसे बोलना चाहिए ?

शीतलता स्वाभाविकता और नम्रता से बोलना चाहिए। हँसते हुए बोलने से उसका असर नहीं होता। मधुरता से दिया जाने वाला उपालंभ अधिक ग्राह्य होता है। 'यह सदा का ही ऐसा है। इसने सदा ऐसा ही किया है' आदि वाक्य कहने से कटुता बढ़ती है। इसके स्थान पर यदि ऐसा कहा जाए कि यदि तुम ऐसा करते तो कैसा 'रहता' तो वह बुरा नहीं मानता। उसे स्वयं अपनी गलती अनुभव होने लगती है।

कहां बोलना चाहिए ?

जहां बोलने का अपनी दृष्टि से कोई लाभ हो।

इस प्रकार खान पान रहन-सहन आदि सभी क्रिया-कलापों में इन चार दृष्टियों का प्रयोग करना चाहिए जिससे उस क्रिया का विवेक मिले।

मुनि नथमल

जन्म : वि० स० १६७७ आषाढ कृष्णा १३, टमकोर (राजस्थान)।

दीक्षा : वि० स० १६८७ माघ शुक्ला १०, सरदारशहर (राजस्थान)।

आचार्य तुलसी के सतत् सान्निध्य मे रहकर सस्कृत, प्राकृत और हिन्दी का अध्ययन। सस्कृत के प्रतिभा सम्पन्न आशु कवि। मुकलम्, अश्रुवीणा, सम्बोधि आदि अनेक सस्कृत ग्रन्थो एव विभिन्न विषयो के लगभग पचास हिन्दी ग्रन्थो के रचयिता। हिन्दी ग्रन्थो मे उल्लेखनीय हैं : जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व, अहिंसा तत्त्व दर्शन, अनुभव चिन्तन मनन, तुम अनन्त शक्ति के स्रोत हो, गागर मे सागर, विजय यात्रा, फूल और अगारे, अग्नि जलती है, भाव और अनुभाव आदि।

आचार्यश्री की देख-रेख मे चल रहे आगम-शोध-कार्य के भी आप ही प्रधान निर्देशक और सम्पादक हैं। अभी-अभी आपने दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, स्थानाग, समवायाग, आचाराग आदि सूत्रो का विवेचन और सम्पादन किया है।